परिषद्-निबन्धावली

भाग १

अर्थात्

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-परिषद् में पढ़े गये
कुछ मौलिक निबन्धों का संग्रह

सम्पादक
श्रीयुत् धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग

प्रकाशक
रामनरायन लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १०००] १९२९ [मूल्य १)

निबन्ध-सूची

(क) नवीन

१. वर्तमान हिन्दी-पञ्चरत्न, [श्री रामशंकर शुक्ल एम० ए० ... १

२. आधुनिक गद्य-साहित्य एवं शैलियों का विकास, [श्री-लाकता प्रसाद शुक्ल एम० ए० ... ... ४१

३. वर्तमान हिन्दी-कविता का विकास, [श्री विक्रमादित्य सिंह एम० ए० ... ... ६३

४. मैथिली शरण गुप्त और उनका काव्य, [श्री कुँवर कृष्ण बी० ए० ... ... १०७

५. हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान, [श्री सूर्य वर्मा बी० ए० ... ... १३१

(ख) प्राचीन

६. नन्ददास कृत रासपञ्चाध्यायी और भ्रमरगीत, [श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० ... ... १७५

७. हिन्दी-साहित्य की विचार-धारा का आदि युग, [श्री रमाशंकर शुक्ल बी० ए० ... ... १६५

८. तुलसीदास पर उनके समकालीन कवियों का प्रभाव, [श्री भगवती चरण वर्मा बी० ए० ... ... २१७

९. दलित जातियों के द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवा, [श्री दीनदयालु गुप्त बी० ए० ... ... २५१

परिचय

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-परिषद् की स्थापना सन् १९२२ ई० में हुई। परिषद् का उद्देश व्याख्यान, साहित्यानुशीलन, वाद-विवाद तथा हिन्दी भाषा के ग्रंथों के प्रकाशन द्वारा मुख्यतया विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रति प्रेम बढ़ाना और हिन्दी में खोज तथा स्वतन्त्र रचना विषयक उत्साह का प्रचार करना रहा है। अपने उद्देश की पूर्त्ति के लिये परिषद् क्या करता रहा है इसका विस्तृत वर्णन करना यहां संभव नहीं है, किन्तु तो भी इतना उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि प्रतिवर्ष अनेक वादविवाद, कवि सम्मेलन, निबन्ध रचना आदि की प्रतियोगिताओं तथा पुरस्कारों का आयोजन करके विश्वविद्यालय के 'अंग्रेज़ी' वातावरण में इसने मातृभाषा हिन्दी के लिये आदर, सहानुभूति, तथा अनुराग के उत्पन्न करने में बहुत सहायता पहुँचाई है। परिषद् के 'क़दम' कितने अच्छे रहे यह इसीसे प्रकट है कि दो वर्ष के भीतर ही सन् १९२४ में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विधिवत् अध्ययन तथा खोज के लिये विश्व-विद्यालय में हिन्दी विभाग स्थापित हो गया।

विश्वविद्यालय के प्रमुख, पूज्यपाद गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा एम० ए० डी० लिट०, एल एल० डी० ने सन् १९२९ में यह इच्छा प्रकट की कि विश्वविद्यालय की प्रत्येक संस्था में वादविवाद, तथा व्याख्यान आदि के साथ ही साथ स्थायी

हित की दृष्टि से मौलिक निबन्ध-रचना पर भी विशेष ध्यान दिया जावे। हिन्दी परिषद् ने तुरन्त ही इस अमूल्य विचार को कार्य्य रूप में परिणत करना प्रारम्भ कर दिया। प्रस्तुत पुस्तक गत दो वर्षों (१९२६-२८ में) परिषद् में पढ़े गये निबन्धों में से कुछ का संग्रह मात्र है। हिन्दी प्रेमी जनता के लिये विशेष रोचक तथा हितकर समझ कर परिषद् ने इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने का साहस किया है। इस तरह के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह हिन्दी में बहुत कम हैं।

आरम्भ के पांच निबंध हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति से संबंध रखते हैं तथा शेष चार प्राचीन साहित्य से संबंध रखने वाले हैं। निबंधों में प्रकट किये गये विचार प्रत्येक लेखक के अपने हैं। परिषद् में इनके पढ़े जाने के समय इस संबंध में सदा भली प्रकार विचार परिवर्तन होता रहा है। यह स्वाभाविक है कि निबंधों की शैली में भी प्रत्येक लेखक की अपनी छाप है। सब को एक सांचे में ढालने से उनकी रोचकता नष्ट हो जाती। उदाहरणार्थ "आधुनिक हिन्दी पंचरत्न" में १९वीं शताब्दी के रीति-शास्त्र के प्रेमी एक ब्रजभाषा कवि की लच्छेदार खड़ी बोली का आभास मिलता है, "आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास" की शैली में बीसवीं सदी की सादगी है, तथा 'वर्तमान हिन्दी कविता का विकास' शीर्षक निबंध 'हिन्दुस्तानी' के पक्षपाती का लिखा मालूम होता है। इसी प्रकार अन्य

निबंधों में भी शैली का व्यक्तित्व है, जिससे यह संग्रह शैली की दृष्टि से भी अत्यन्त आकर्षक तथा महत्वपूर्ण हो गया है।

स्थानाभाव तथा अन्य कई कठिनाइयों के कारण कई अच्छे निबंध इस संग्रह में नहीं दिये जा सके। ऐसे निबंधों तथा लेखकों के नाम सूचनार्थ नीचे दिये जाते हैं:—

१. रस तथा उसका आस्वादन—श्री गणेशप्रसाद शर्मा एम० ए०
२. हिन्दी में हास्यरस—श्री सिद्धनाथ चौबे बी० ए०
३. उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटक—श्री चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए०
४. विद्यापति तथा उनकी पदावली—श्रीरामधर दुबे बी० ए० एल० एल० बी०
५. सूरदास तथा नन्ददास की रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत श्री दीनदयाल गुप्त एम० ए०
६. तुलसीदास और सूरदास के गीतिकाव्य—श्री कुंगालाल मालवी, एम० ए०
७. महात्मा तुलसीदास की कविता पर तत्कालीन परिस्थियों का प्रभाव—श्रीरामकुमार वर्मा बी० ए०

श्री लाला रामनरायन लाल जी के सुपुत्र बा० बेनी प्रसाद जी अग्रवाल एम० ए०, एल एल० बी० इस निबंधावली को अपने यहाँ से प्रकाशित करने को तुरन्त तैयार हो गये, अतः परिषद् इस

प्रोत्साहन देने के लिये उनका आभारी है। इन निबंधों की छपाई की देखभाल श्रीरामशंकर शुक्ल एम० ए० ने की है अतः वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में मुझे केवल यही कहना है कि यदि हिन्दी प्रेमियों ने प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद् की इस निबंधावली को अपनाया, तो परिषद् प्रायः प्रतिवर्ष इस प्रकार के रोचक तथा हितकर निबंधों के संग्रह को हिन्दी जनता के सन्मुख रखने का उद्योग करता रहेगा, क्योंकि निबंध-पाठ अब हमारे दूरदर्शी पूज्य वायसचांसलर महोदय के मार्गप्रदर्शन से हिन्दी परिषद् के स्थायी कार्यों में से एक मुख्य कार्य हो गया है।

धीरेन्द्र वर्मा
सभापति हिन्दी परिषद्,

विश्वविद्यालय, प्रयाग।
१. १. १९२९.

परिषद्-निबन्धावली

वर्तमान-हिन्दी-पंचरत्न

[लेखक—पं० रामशङ्कर शुक्ल, एम० ए०]

काव्य, साहित्य का एक मुख्यातिमुख्य अंग है। बिना काव्य के साहित्य का कलेवर सरस मानस से विहीन होकर केवल एक नीरस नर-कंकाल के समान ही प्रतीत होता है। मानव-मानस तो इस से सरस होता ही है, मस्तिष्क को भी इसकी मंद, मोहिनी, मंजु एवं मीठी सुरभि से सुख तथा शान्ति की प्राप्ति होती है। कविता, सच पूछिये तो, भाषा की आत्मा ही है। इसी के प्रकाश से भाषा तथा साहित्य का विशद विकाश विस्तारित होता है। उनकी कीर्ति-कौमुदी इसीकी ललित कला से कलित हो चारों ओर निखर निखर कर बिखर जाती है। फलतः इससे यह सरलतया सिद्ध होता है कि उस काव्यकला का कलाधर रूपी कवि भाषा और उसके साहित्याम्बर में बहुत ऊँचा स्थान रखता है। कविता-कामिनी-कान्त होकर, कवि, भाषा भाव एवं रसादि के चातुर्य-माधुर्य तथा सौंदर्य का एक नायक और अधिपति होता

है। प्रकृति का वह अनुरक्त भक्त है, प्रेम का वह पुजारी है, सच्चिदानन्द (सत्य, ज्ञान, और आनन्द की पूर्णावधि रूपी ब्रह्म) का वह उपासक तथा वंद्यवाणी का सच्चा सेवक है। धर्म, कर्म के मर्म का प्रकाशक बनकर वह मानव-मानस का नेही नेता भी हो जाता है। अतः देश, काल तथा परिस्थिति का पठन-पाठन करना उसका मुख्य कर्तव्य है। इसी प्रकार के कवि सदा उच्चासन पर आसीन होते हैं और उनकी गणना रत्नों में की जाती है।

साम्प्रतं हमारे सम्मुख हमारी हिन्दी भाषा के "नव-रत्न"* चमक दमक रहे हैं, किन्तु वे विशेषतया प्राचीन भाषा (ब्रजभाषा तथा अवधी) रूपी रत्नाकर के ही रत्न हैं। वे इस असार संसार में अब नहीं रहे, हां, केवल उनकी प्रतिभा ही हमारे सम्मुख कविता-कौमुदी के रूप में शेष रह गई है, वे रत्न बहुत समय पूर्व के हैं। इस वर्तमान समय में भाषा-रत्नाकर ने कुछ दूसरे रुचिर रत्न निकाल कर भारत की साहित्यधरा को सत्यतः वसुन्धरा बना दिया है। इन रत्नों में नवीन न्यारी और परमप्यारी प्रतिभा प्रतिभात होती है, ये रत्न संख्या में पांच ही हैं। हम यहां इन्हीं नवीन पंच-रत्नों की परख करने का प्रयास करेंगे। किन्तु इसके पूर्व हम यह कह देना सर्वथा उचित समझते हैं कि देश, काल तथा परिस्थिति में, जिनका बहुत बड़ा प्रभाव भाषा तथा भावों पर पड़ता है, विशेष परिवर्तन हो गया है। आधुनिक समय, समाज तथा भाषा और प्राचीन समय, समाज, और भाषा में बहुत विशाल परिवर्तन हो गया है।

---

* श्रीयुत मिश्रबन्धु कृत "हिन्दी नवरत्न" के नौ महाकवि।

कविता-क्षेत्र तथा उसके कवि कृपकों में भी उसका पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो रहा है। यह एक स्वयंसिद्ध ही सी है कि सामाजिक, सामयिक, तथा नैतिकादिक आन्दोलनों एवं क्रान्तियों के साथ ही साथ भाषा तथा मनुष्यों के भावों में भी बड़ा हेर फेर हो जाता है। कवि और कविता दोनों ही भाषा तथा भावों पर ही सब प्रकार समाधारित हैं, वे उनसे पृथक् होकर कदापि नहीं जा सकते, वरन् उन्हीं पर पूर्णतया निर्भर रहते हैं। हां, यह अवश्य होता है कि वे अपना मार्ग पूर्ववर्ती मार्ग से मिलता जुलता हुआ ही रखते हैं, अपितु वे या तो उसे पूर्णरूप से नया ही कर लेते हैं, या प्राचीन मार्ग अथवा प्रणाली में आवश्यक एवं समयानुकूल समुचित सुधार ही कर लेते हैं, फलतः साहित्यिक क्षेत्र में प्रायः दो या अधिक पद्धतियां एवं शैलियां निकल पड़ती हैं। कुछ सज्जन एक का, तो कुछ दूसरी का अनुसरण एवं ग्रहण कर लेते हैं। साथ ही कुछ दोनों ही का अनुभव किया करते हैं। ठीक यही दशा हमारे वर्तमान काव्य, कवियों तथा समस्त साहित्य-सेवियों की हो रही है। पुरानी परिपाटी में कुछ आवश्यक तथा उपयुक्त सामयिक सुधार होगये हैं, कुछ नयी परिपाटियां भी चल खड़ी हुई हैं तथा कुछ पुरानी प्रथायें अभी तक ज्यों की त्यों ही चली जा रही हैं।

हमारी भाषा, हमारा समाज, हमारे भावों, आचारों, विचारों तथा व्यवहारों आदि पर दूसरे भाषाओं, दूसरे समाजों, दूसरों के आचारों, विचारों तथा व्यवहारों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़

चुका है, तथा जैसे जैसे हमारा सम्पर्क दूसरों के साथ बढ़ता जा रहा है वैसे ही वैसे हम पर उनका प्रभाव और भी गहरा पड़ता जा रहा है। हम इसे जानते और मानते ही हैं कि हमारी प्रत्येक बात पर मुसलमानों का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका है, अब हम यह भी देख रहे हैं कि हमारी सम्पर्क-सीमा के बढ़ जाने से हम पर अंग्रेजों तथा अन्य विदेशियों का प्रभाव प्रतिदिन कैसा और कितना गहरा पड़ता जा रहा है।

यही कारण है कि हमारी बहुत सी बातों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है तथा अभी और होता जा रहा है। ऐसी दशा में हमारी भाषा, हमारे भाव तथा हमारी कविता कैसे अपरिवर्तित रह सकती है। अवश्य ही उसमें परिवर्तन होना चाहिये, और हम देख भी रहे हैं कि उसमें पर्याप्त परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से हो भी रहा है।

यह भी सत्य, सिद्ध तथा एक प्रत्यक्ष बात है कि अनेकानेक आन्दोलनों तथा परिस्थितियों में परिवर्तनों के होने ही से हमारी खड़ी बोली तथा उसके गद्य का विशद विकाश हुआ है, तथा ब्रज-भाषा और उसके पद्य का पद नीचे गिर गया है। कह सकते हैं कि यह युग प्रधानतः खड़ी बोली के गद्य का ही युग है, ब्रजभाषा के पद्य का वह समय और वह महत्व स्वत्व अब नहीं रह गया। खड़ी बोली का पद्यभाग अब उठ रहा है परन्तु उसका स्थान साहित्य में प्राधान्यपूर्ण नहीं, प्राधान्य है तो गद्य ही का। भाषा-साहित्य में खड़ी बोली के गद्य तथा पद्य की तूती बोल

रही है, ब्रजभाषा के गद्य तथा पद्य का सुरीला एवं रसीला गान मृदु और मंद होने के कारण सुनाई ही नहीं पड़ता। केवल कुछ ही मधुर सौंदर्य के प्रेमी, तथा प्राचीन नीति-रीति के नेमी रसिक सज्जन उसके राग में अनुरक्त हैं, साधारणतया तो सब लोग उससे विरक्त ही दिखलाई देते हैं।

खड़ी बोली और ब्रजभाषा की तुलना करना हमें यहां अभीष्ट नहीं, तथापि हम यहां पर इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि ब्रजभाषा में जैसा माधुर्य है वैसा खड़ी बोली में कदापि नहीं, यह न केवल हमारी ही धारणा है वरन् अनेकानेक विद्वानों एवं साहित्यमर्मज्ञों का भी यही मत एवं विचार है*। ब्रजभाषा में एक सरस स्वाभाविक एवं सरल धारावाहिकता, है वह खड़ी बोली में नहीं मिलती, यही उसके ऐसे मोहन मंत्र हैं जो प्रत्येक रसिक हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर उसे ब्रजभाषा का प्रेमी और नेमी बना लेते हैं। इन्हीं के कारण आज भी कुछ कविरत्न तथा सरसता के पोषक प्रेमी पाठक ब्रजभाषा ही में कविता रचते रचाते तथा सुनते सुनाते हैं, और ब्रजभाषा के साहित्य तथा उसकी कविता का पालन-पोषण कर उसकी रक्षा किये चले जा रहे हैं। अब यह भी प्रयत्न हो चला है कि ब्रजभाषा का पुनरुद्धार तथा कविता में तत्संचार-प्रचार किया जावे, नहीं तो कुछ ही समय पूर्व इसे तो विस्मृति के अंधकूप में डाल देने की ही बात वेग से फैल रही थी और एतदर्थ प्रयास भी प्रबलता से हुआ था। बड़े संतोष, प्रसन्नता

---

* जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्रादि।

एवं गौरव की बात है कि व्रजभाषा ने अपनी इस हीन, दीन क्षीण और मलीन दशा में भी कुछ कविरत्न ऐसे उत्पन्न कर दिये हैं जो उसके अंधकार में पड़े हुए गौरव-रत्न को अपनी प्रतिभा की प्रभा से जगमगा कर उज्वल कर रहे हैं।

हम प्रथम ही कह चुके हैं कि परिवर्तन का नव्य नर्तन सारे साहित्य मंच पर हो रहा है, नये नये आचार विचार, नयी नयी चाल ढाल, नये नये रंग ढंग, नये नये हाव भाव, नये नये ध्वनि राग तथा नई नई नीतियों रीतियों के रूप अपना न्यारा न्यारा कौतुक कर रहे हैं। खड़ी बोली नवीन नटी के वेष में अपनी ललित लीला दिखला रही है, और सारा समाज इस नये साज सामान पर मंत्रमुग्ध सा हो रहा है, चारों ओर से वाह वाह की ध्वनि गूँज रही है। ऐसे समय में, ऐसी दशा तथा ऐसे समाज के सामने बेचारी व्रजभाषा भी मजबूर हो अपने आचारों विचारों में परिवर्तन कर नये रंग ढंग एवं हाव भावादि के साथ रंग मंच पर रस रहस्य का रास रच रही है; क्योंकि यह सिद्धान्त ही है कि "समय देखि कै हूजिये, कुटिल सरल गति आप" अथवा "जैसी देखो गाँव की रीति, तइस उठाओ आपन भीति"—वह यदि ऐसा न करती तो और करती ही क्या, कहावत ही है कि—"भाँड़ों के साथ न नाचो, तो हिस्सा न पाओ" बिना यों किये उसे सुयश रूपी उपहार या कीर्ति का लाभ कदापि न होता, उसे खड़ी बोली ही अपना लेती, और व्रजभाषा अपने पुराने गीत ही गाती और मुँह ही ताकती रहती, हाँ, बड़े भाग्य होते तो कुछ थोड़ा सा

बचा खुचा उसे मिल पाता, प्रथम तो उसे पूछता ही कौन, क्योंकि "नये के नौदाम, पुराने के छै"। हाँ इस प्रौढ़ा या वृद्धा व्रज-भाषा को कुछ पूछ यदि इस समय होती है तो बस इसी कारण कि इसमें अनुभव, एवं ज्ञान विशेष है, इसने अपने समय में अनेकानेक राज-दरबार किये तथा सभासमाजें देखा हैं, अनेकों रसिक सज्जनों की सत्संगति की है, और अनेकों गुणी, ज्ञानी तथा कला-कुशल श्रीमानों के यहाँ रमी विरमी है, यदि यह बात न होती, यदि इसमें इतना अनुभव एवं ज्ञान न होता तो कोई इसकी बात भी न पूछता, भला इसकी खबर इस नवयौवना मुग्धा नायिकारूपी खड़ी बोली के सामने कौन लेता, हाँ यह अवश्य कह सकते हैं कि इस प्रौढ़ा व्रजभाषा की प्रौढ़ा कविता-कामिनी को न केवल वही थोड़े से प्रौढ़, वयोवृद्ध, पुराने प्रेमपटु सरस सज्जन चाहते और सराहते हैं जो इसके लड़कपन के प्रेमी तथा नेमी हैं और जिन पर इसने प्रथम ही से अपना अधिकार जमा रक्खा है, वरन् इस गई गुज़री हालत में भी इसकी चातुरी एवं रसनामाधुरी के बल से बहुतेरे रसिक नवयुवक भी इसकी गली में रस से सिंचकर खिंच आते हैं। अस्तु,

वास्तव में बात यह है कि व्रजभाषा, सरस भावपूर्ण मधुर, छोटी और मुक्तक कविता के लिये तथा खड़ी बोली प्रबंधात्मक, सरल एवं लम्बी कविता के लिये अधिक उपयुक्त है। शब्दों पर कुतूहलपूर्ण कौतुक तथा चमत्कारपूर्ण चातुर्य माधुर्य के साथ जैसा व्रजभाषा में हुआ है और हो सकता है

वैसा खड़ी बोली में कदापि नहीं* । जितने स्वल्प स्थान में बहुत सा भाव चतुरता के आवरणान्तर में व्रजभाषा में रक्खा जा सकता है उतना तथा उसी प्रकार खड़ी बोली में कदापि नहीं । हां खड़ी बोली में जिस सुन्दरता के साथ किसी विषय का निबंधन हो सकता है उसी सौष्ठव से व्रजभाषा में नहीं हो सकता, यही इन दोनों भाषाओं के कविता-पथों में मुख्य अन्तर दिखाई पड़ता है । यों तो दोनों ही अपने अपने रंग ढंग में अनोखी और चोखी होकर अपने अपने स्थानों एवं मार्गों पर उपयुक्त और मनोरम लगती हैं ।

यह बतलाया ही जा चुका है कि देश, काल, समाज एवं परिस्थितियों का बड़ा भारी प्रभाव भाषा पर पड़ता है जिससे उस भाषा के कवि और उनकी कवितायें भी प्रभावित हो जाती हैं । व्रजभाषा के लिये समय व समाज ऐसा ही था कि उसमें जैसी कविता बनी वैसी ही उस की मांग और आवश्यकता भी थी, किन्तु जब से भारत का अंग्रेजों, उनकी भाषा एवं सभ्यता आदि से सम्पर्क हुआ और अंग्रेजी शासन का पूर्ण विस्तार-वृत परिवर्धित हुआ तब से अनेकानेक बातों में परिवर्तन हो गया है तथा हो रहा है । यह किसी से भी छिपा नहीं, कि राष्ट्रीयता के भाव चारों ओर फैलकर प्रत्येक भारतवासी की रग रग में होते हुये हृदय में पैठ व बैठ गये हैं, देश-प्रेम तथा स्वतंत्रताराधना, भारत-भक्ति, और स्वराज्यार्जन आदि के विचार द्रवीभूत होकर

---

* श्रीयुत पं० प्रतापनारायण जी मिश्र का भी यही मत है ।

चतुर्दिक् फैल गये हैं, प्रत्येक मन-मानस में नवीन सभ्यता की जीवन-ज्योति जगमगाने लगी है, सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन प्रतिदिन नये निराले रूपों से हो रहे हैं। धार्मिक भावों की संकीर्णता दूर हो रही है, किन्तु साथही स्वधार्मिक बातों का वृत संकुचित होरहा है। भक्ति और प्रेम का तिरोभाव तो अवश्य हो गया है यदि इनका अत्यन्ताभाव अभी नहीं हो पाया।

ऐसी दशा में भाषा में भी नव्यालोक की रश्मिमाला देदीप्यमान हो गई है और वह गद्य शैलियों के रूप में निखर बिखर कर बड़े वेगबल से चारों ओर चढ़ती बढ़ती जाती है, इसके सामने कविता कला की कौमुदी क्षीण और मलीन हो रही है, उसकी वह मधुर एवं मोहिनी शीतलता गद्य की गरमी में लीन-विलीन सी हो रही है, उसकी सुकुमार तंत्री के तारों की झंकारों का मंद, मधुर कलरव खड़ी बोली के ढोल रूपी गद्य के घोर नाद के सम्मुख सुनाई ही नहीं पड़ता, बस "नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़" सी दशा है। खड़ी बोली की कविता-कामिनी अभी नवयौवना है इसीसे उसमें बाल-चंचलता तथा वेगपूर्ण गहरी गति, नयी उमंग, नया रंग, नया न्यारा ढंग एवं प्रसंग है, उसमें नव जीवन की स्फूर्ति है, उसमें जोश है, नये रक्त का द्रुतगति से अनूठा आवेश है, उसमें उत्साह है, और मान गुमान का गहरा प्रवाह है। अतः उसीकी चारों ओर आज चर्चा और अर्चा होती है।

इस आधुनिक काल में वह पुराने राग को त्याग कर अपनी नयी तान तान रही है। उसकी संगीत लड़ियों में तथा उसकी

कविता-कड़ियों में राष्ट्रीयता, जातीयता, स्वदेशानुरक्ति तथा हिन्दी-हिन्दू-हिन्द की भक्ति बड़ी शक्ति के साथ उमड़ उमड़ कर उद्वेलित हो रही है। वह अपने गानों की तानों को बड़ी दूर तक खींच ले जाती है। उसमें हाव भाव की कोमल कला भला कहाँ से मिले, उसमें तो चांचल्यपूर्ण बाल्यकाल का खिलवाड़ और अनियंत्रित उच्छृङ्खलता अभी तक बनी ही हुई है, यह नवोत्कर्ष से जैसी मन में मौज उठती है बक जाती है। बात यह है कि वह जानती है कि सभी झख मारेंगे और उसकी चाहना एवं सराहना करेंगे क्योंकि उसका आतंक ही जमा हुआ है। वह सेवियों की प्यारी साहित्यदुलारी है, उसे कौन ऐसा दुष्ट होगा जो रुष्ट करेगा और सभी रोषी समाज का दोषी बन कर फटकार सुनेगा।

हाँ एक बात अवश्य है कि खड़ी बोली की कविताकामिनी कुछ गुरुजनों के समाज में लज्जावश कहीं कभी अपनी यह सब बातें छोड़ कर उचित पथ पर यथाविधि चलती है और नीति रीति को नहीं तोड़ती-मरोड़ती। उनके सम्मुख और उनकी देख-रेख में इसका गान अवश्य कुछ अच्छा होता है, वे इसे अच्छी गति व मति देकर क्षति से बचने का उपदेश भी देते हैं। उन्हीं के कृपालु करकमलों से इसका कलेवर कमनीय किया जा रहा है और उन्हीं के द्वारा इसका संस्कार एवं सुधार भी हो रहा है। अस्तु, यों कहिये कि जिस प्रकार साम्प्रतं ब्रजभाषा की कविता के पास कुछ अनूठे और अनजूठे रत्न हैं उसी प्रकार खड़ी बोली के भी पास कुछ अनोखे

चोखे तथा नये निराले रत्न हैं जिनसे उसकी महत्ता की सत्ता साक्षात् रूप से प्रदर्शित हो रही है।

हम अब इन दोनों के रत्नों को ले कर एक एक की पृथक् पृथक् आलोचना करेंगे, हां, स्थान एवं समय के अभाव से उसको बहुत विशद रूप न दे सकेंगे। आवश्यक गुणों का दिखलाना जो अनिवार्य ही है अवश्य न भूलेंगे। इसके पूर्व कि हम अपने पांचों रत्नों की समालोचना एवं विवेचना करें हमें यह उचित जान पड़ता है कि हम समालोचना का रूप एवं उसकी रीति-नीति दिखला दें और यह भी बता दें कि हम किन किन लक्षणों और गुणों को देख कर किसी को कवि-रत्न कह सकते हैं। जब तक हम ऐसा न कर लें तब तक आगे बढ़ना सर्वथा अनुचित ही सा है।

समालोचना का अर्थ है सम्यक् प्रकार से किसी की आलोचना अर्थात् देखभाल करना। कविता को समालोचना से मुख्य तात्पर्य यह है कि कविता का क्या भाव है, उसका कौन अर्थ स्पष्ट तथा कौन लक्ष्य और कौन सूक्ष्म एवं ध्वनित है। उसमें कौन सा रस है, कौन व क्या गूढ़ार्थ उसमें व्यंजित किया गया है। कवि का क्या मुख्य प्रयोजन या तात्पर्य है और उसे वह कितनी दूर और कहां तक कैसे ढंग से व्यक्त कर सका है, उसके हार्दिक विचार कहां तक, और कैसे सुढंग से सजीव भाषा में समनुवादित हुए हैं। कवि की वर्णन या प्रकाशन शैली कैसी है। भाषा किस प्रकार की है, उसमें काफी ज़ोर है या नहीं, उसके भावों के लिये वह सर्वथा उपयुक्त है या नहीं, उसमें शिथिलता, नीरसता जटि-

लता तथा अव्यावहारिकतादि के दोष तो नहीं हैं। वाक्य-विन्यास और शब्द-संगठन किस प्रकार का है। असम्बद्धता तथा व्याकरण की त्रुटियां तो उसमें नहीं हैं, निरर्थक शब्द तो नहीं प्रयुक्त हुये। बेमेल घिसेघिसाये तथा गढ़े हुये शब्दों की तो भरमार नहीं है। व्यर्थ के शब्द तो नहीं हैं, वाक्य ऐसे तो नहीं हैं जिनका व्यवहार एवं प्रयोग सर्वमान्य न हो, मुहाविरे चुस्त, दुरुस्त और चरितार्थ हैं या नहीं। उसमें युक्तिपूर्ण उक्ति कैसी गठी हुई है, एवं वह सजीव और सार्थक है या नहीं। उसमें भाव ऐसे तो नहीं हैं, जिनका प्रभाव देश एवं जनता पर बुरा पड़ता हो, व गंदे, अश्लील और दूषित तो नहीं हैं। उनमें मौलिकता नियमानुकूल प्रदर्शित की गई है या नहीं, परम्पराप्रणाली के उल्लंघन का दोष तो नहीं आ गया। उनमें पर्याप्त चातुर्य चमत्कार तथा नूतनता का सार मिलता है या नहीं। उनमें हृदयाकर्षण शक्ति कहां तक है और कहां तक वे मनुष्यों में भक्ति और अनुरक्ति की जागृति करा सकते हैं। भाव या विचार यों तो सभी के मानसों में उठते और लहराते ही रहते हैं परन्तु कवि के भावों में एक अनोखा और चोखा चातुर्य व चमत्कार रहता है, उनमें कल्पना का कुतूहलपूर्ण कमनीय कौतुक मनोविनोदार्थ भरा रहता है, वर्णन तथा वस्तु निरीक्षण की शक्ति का विचित्र चित्र चित्रित रहता है। इसी विशेषता के कारण कवि और कविता, लेखक और लेख से पूर्णतया पृथक् हो जाते हैं, विचारों एवं भावों के प्रकाशन की रीति में विचित्रता, वाक्य-विन्यास की विलक्षणता तथा कल्पना की विचक्षणता ही

कवि की कीर्तिकारिणी कलायें हैं। रचना-चातुरी ही उसकी मोहिनी शक्ति है। भाव गाम्भीर्य, अर्थ-गौरव तथा पद-लालित्य ही उसके वशीकरण-प्रयोग हैं*। कहा भी है—"कविहिं अरथ आखर बल साँचा"। कविता में रस का होना भी अपना पूर्ण प्राधान्य रखता है; क्योंकि काव्य की परिभाषा ही इसकी महत्ता सत्ता को स्थापित करती हुई इसकी अनिवार्य आवश्यकता को प्रगट करती है। कहा ही गया है कि "रसात्मकं वाक्यम् काव्यम्।" बस यह रस ही है जिन्होंने कवि को इतने ऊँचे आसन पर आसीन करा दिया है और समालोचकों से बलात् कहला दिया है कि:—

---

* कविता वही उत्तम मानी जाती है जिसमें भाव-गाम्भीर्य और अर्थ-गौरव ऐसा हो कि वह पाठकों एवं श्रोताओं के हृदयों में चिरस्थायी हो जावे और वे उसे बार बार पढ़ते या सुनते ही रह जायें, उससे जो रस एवं भाव उन्हें मिला है उसे वे मन ही मन में चखते, लखते और परखते ही रहें, वाह वाह के सिवा और कुछ कह ही न सकें—कहा भी है—"संचिंत्य संचिंत्य जगत्समस्तं त्रयः पदार्थाः हृदये प्रविष्टाः। इक्षोर्विकारः मतयः कवीनाम् मुग्धांगनापांगतरंगितानि।" साथ ही कविता वस्तुतः ऐसी ही होनी चाहिये कि उसमें सभी को अपने २ अभीष्ट भाव झलकते हुये देख पड़ें—उसे "जाकर होय जहाँ जहाँ भाऊ। सो तस देखै तेहि करि चाऊ।" वह किसी के भी चित्त को दुःख न पहुँचाती हो, "भिन्न भिन्न रुचि सब ताकहँ देखैं। आपन ही रुचि, मति तहँ लेखैं।" उदाहरण लीजिये—"गतं बहुतरं कालम् स्वल्पमेवावशेषितम्। कुकवित्वसमाधानं मा कलंकं कुलं कुरु।"

"कवि सब विधि विधि तें बड़े, यामे संशय नाहिं।
छै रस विधि की सृष्टि में, नौ रस कविता माँहि॥"

बिना रस के सारा मज़ा फीका ही रहता है, रस तथा भाव के बिना छंद कितने ही ललित क्यों न हों कविता की उपाधि नहीं पा सकते, हां उन्हें पद्य के नाम से अवश्य ही पुकार सकते हैं। केवल भाव बिना रस के कविता के कलेवर को नहीं बना सकते, यह बात यदि न होती तो भावपूर्ण गद्य सर्वथा कविता ही बन बैठता। भावपूर्ण किन्तु रस से हीन छंद को छंद बद्ध गद्य ही कहते हैं (Versified Prose—जैसे रीति ग्रंथों के छंद तथा स्मृति, वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरणादि के छंद)।

कविता में रस, भाव और छंद का ऐसा सुन्दर सामंजस्य, ऐसा वाक्यविन्यास (पदलालित्य), सजीव एवं सार्थक शब्दों का संगठन; तथा अर्थगौरव ऐसे चातुर्य-माधुर्यपूर्ण चमत्कार के साथ होना चाहिये कि उसे सुनते और समझते ही हृदय फड़क उठे, उसमें रस का पूर्ण संचार हो जाये, वही विचार-धारा वहां बह चले जो काव्य में है, सारा ध्यान उधर ही आकृष्ट हो रम जम जाये और मुख से सहसा ही श्लाघासूचक शब्द जैसे वाह! वाह!! आदि निकल पड़ें। कहा भी है—

"तया कवितया किंवा, तया वनितया च किम्।
पद-विन्यासमात्रेण यया न संहृयते मनः॥"

भाषा, भाव, रस, तथा रचना-चातुरी ही सत्काव्यकारिणी है, किन्तु इन सब में भी रचना-चातुरी तथा सुन्दर भाषा

(पदलालित्य, सुष्ठु शब्द संगठन एवं वाक्य-विन्यास) की विशेष प्रधानता है, कह सकते हैं कि इन पर ही और दूसरे सभी गुण निर्भर से रहते हैं अथवा ये मुख्य और दूसरे सब गुण गौण ही से हैं—वास्तव में शब्द संगठन एवं पदलालित्य से छंद कुछ से कुछ ही हो जाता है, उसमें अपनी एक विशेष मनोरंजकता आ जाती है। यथा:—

१—शुष्कः वृक्षः तिष्ठति अग्रे।
२—नीरसतरुरिहि विलसति पुरतः॥

देखिये दोनों में बात एक ही है किन्तु पद लालित्य से कितना बड़ा अन्तर आ गया है।

साम्प्रतं काव्य-क्षेत्र में प्रायः इन बातों का बड़ा भारी अभाव है, विशेषतया खड़ी बोली की कविता में। बहुधा अब लोग छंदबद्ध निबंध ही लिखा करते हैं और वह नितान्त ही रस और भाव से शून्य होता है, उसमें कुछ भी तत्व नहीं रहता, बस व्यर्थ का शब्दाडम्बर, ऊटपटांग की कल्पनायें, असम्बद्ध वाक्यों का उद्दंड तारतम्य और अनर्गल विचारों का स्रोत प्रोत भरा पड़ा रहता है। संगीत सबसे अधिक मनोरम एवं मधुर वस्तु है, कविता से इसका प्रगाढ़ सम्बंध है, यद्यपि यह उससे पूर्णतया पृथक् ही है क्योंकि यह स्वरों (ध्वनि, राग, रागिनी, ताल, लय) आदि पर निर्भर है और कविता मात्राओं और वर्णों की नियमित संख्या पर। कविता में संगीत का सुस्वाद अवश्य रहता है, प्रत्येक छंद गाया जाता व

जा सकता है अतः कविता संगीत की कक्षा में बैठ सकती है परन्तु वह संगीत उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार परभृत का बच्चा कौवा नहीं होता, यद्यपि उसकी कक्षा या उसके नीड़ में वह निवास करता ही रहता है। अतः कविता के लिये संगीतात्मक छंद की आवश्यकता अनिवार्य है, अन्यथा वह एक प्रकार के विचित्र गद्य काव्य ही सी हो जावेगी, हाँ उसे पूर्णतः संगीति भी न बना देना चाहिये। किन्तु साम्प्रतं कुछ लोग इन बातों पर तनिक भी ध्यान न देकर अनधिकार चेष्टा करते हुये "रबड़ छंद, ब्लैंक-वर्स, बादलराग आदि जो पूर्णरूपेण उच्छृंखल और नियमों की अवहेलना करने वाले अनियंत्रित पद हैं, बनाने लगे हैं। इनकी गणना कविता में कदापि नहीं हो सकती।

भाषा, वाक्य-विन्यास, पदलालित्य, तथा अर्थ-गौरव के अन्दर हमारे सारे अलंकार (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार) आजाते हैं* जिनका विशद वर्णन अलंकार-ग्रंथों में है और यहां दिये जाने की अनावश्यकता रखता है। कवि अब उसी को कह सकते हैं जो इसी प्रकार की कविता का कवि हो। कहा भी है"—

"अलंकार अरु नायिका, छंद लक्षणा व्यंग।
जानै ध्वनि प्रस्तार जो, सो कवि गनिय सुढंग॥"

कविता के दोष और गुण साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और काव्यादर्श आदि संस्कृत ग्रन्थों तथा एतद् विषयक भाषा-ग्रंथों में दिये गये हैं। जो कविता, दूषण-रहित और भव्य भावभूषण

* देखिये हमारा "अलंकार-पीयूष" नामी ग्रंथ।

सहित सरस होती है, वही प्रशस्त मानी जाती है और उसी कविता का रचयिता सुकवि, कविराज एवं कविरत्नादि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। बहुधा लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ समालोचना के विषय पर कोई ग्रंथ ही नहीं हैं, किन्तु हमारा तो कहना यही है कि काव्य के गुणदोष-सूचक ग्रंथ समालोचना के ही ग्रंथ हैं, उन्हीं में काव्य-कसौटी रक्खी है जिसी पर काव्य-कंचन को कसकर देख सकते हैं। हाँ, यह आवश्यक है कि समालोचक का हृदय सरस, और सदय होकर पक्षपात से रहित हो। साथ ही किसी कवि की कविता पर समालोचना करते समय उसे अपने को यथासंभव, पूर्ण रूप से कवि की ही दशा में रखना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कवि का समय क्या व कैसा था, और उसकी समाज तथा परिस्थिति कैसी थी, किन्तु यदि यह भी न किया जा सके तो कम से कम यह तो अवश्य ही करना चाहिये—क्योंकि यह अत्याज्य तथा प्राज्यानिवार्य है, कि अपने हृदय को स्वच्छ, सरस, एवं सदय करके निष्पक्ष बना लिया जावे। नीरस हृदय कविता का रसास्वादन कदापि नहीं कर सकता. इसी से किसी कवि ने कहा है "इतरतानि दुखानि यथेच्छया, वितरतानि सहे चतुरानन। अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि- मालिख मालिख मालिख !!!"—

*समालोचक का ज्ञान-कोष भी बहुत भरा पूरा होना चाहिये,

* बिना पर्याप्त एवं यथार्थ ज्ञान-कोष के वह गूढ़ काव्य का भाव भी न समझ सकेगा और यदि कुछ समझेगा भी तो वह अर्थ के स्थान पर व्यर्थ ही अनर्थ कर

उसमें †अनुभव की मात्रा भी पूरी ही होनी चाहिये, उसकी बुद्धि को विमल, विवेकिनी, गवेषिणी और विवेचिनी भी होना चाहिये। सूक्ष्म बात को भी समालोचक समझ सकने वाला हो, मर्म के भीतर वह पैठ सकता हो, गुप्त रहस्य को संकेत मात्र ही पाकर ताड़ जाता हो, वह काव्य-कोष में प्रवीण, तथा अनुदारता में क्षीण हो, उसमें पुष्कल प्रेम और नयनीति के नेम का होना भी आवश्यक है, कला-कुशलता तो उसे और भी उत्तम बना देती है। इस प्रकार के समालोचक ही कवि और कविता की पूरी परख कर सकते हैं।

जावेगा। "पल्लवग्राहि पांडित्यं" वाले समालोचक महाकवि सूरदास के दृष्टि कूट तथा कबीरादि के उलटे भाव वाले गूढ़ पद कदाचित यथार्थ रूप से समझ ही न सकेंगे, उनकी आलोचना करना तो दूर रहा! व्याकरण के रचना सम्बन्धी नियमों तथा काव्य-कला के चातुर्य पूर्ण कौतुकों (शब्द या वार्ता के कौतुकों) में पटुता प्राप्त किये बिना बहुतेरी कविताओं को अवगत करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव ही है—

यथा:—सीस भरे गहिरे जल में कबहूँ न मरे जल के बिसराये।
पाप करे सो तरे 'तुलसी', कबहूँ न तरे हरि के गुन गाये॥ इत्यादि

तीन लल कर ग्यारह हैं। दस, तीन बिन देखो आय, डेढ़ लल उतमाखी पंथ सुखदाई है। ग्यारह के हूने भोर हो चोर करन लागे......इत्यादि

उदाहरणों की कमी नहीं, विस्तार के भय से हम यहां नहीं देना चाहते—

† कहा भी है—"कवितायाः परिपाकं अनुभव रसिको विजानाति।"

*समालोचक को सर्वथा योग्य ही होना चाहिये। यदि समालोचक सुयोग्य है तो उसके द्वारा कवि और कविता दोनों ही कीर्ति-कान्ति से कलित होकर ललित और लुभावने हो जाते हैं। समालोचक में समझने की भी अच्छी योग्यता होनी चाहिये। जैसी ही अच्छी योग्यता उसमें अर्थों के समझने व समझाने की होगी वैसी ही गुरुता उसके द्वारा कवि तथा कविता को प्राप्त हो जावेगी। इस विषय पर हमारे पूज्यवर महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ जी झा ने माधुरी के एक अंक में अच्छा प्रकाश डाला है† । आपने उपर्युक्त बात की पुष्टि की है।

---

* यदि समालोचक केवल सुयोग्य ही नहीं वरन् स्वयमेव कवि भी हो, तो वह पूर्णतया इस कार्य में सफल होगा।

क्योंकिः—"अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृत फले रसः।
चर्विते सर्व सामान्यं स्वादवित् केवलं कविः॥"

एक चतुर समालोचक बुरे पद्य को भी अच्छा कर के सुन्दर भाव से भरा हुआ दिखा देगा—

यथाः—"वैद्य, चितेरा, ज्योतिषी, हरकारा अरु कवय।
इन्हें विशेषहिं नरक है, औरन को जम लवय॥"

(यहाँ एक अर्थ तो यह हो सकता है कि कवि आदिकों को विशेष रूप से नर्क मिलता है और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि कवि आदिकों को विशेष रूप से नर कहना चाहिये"—यह बात 'नरक है' पद को विशद कर देने वाला योग्य एवं चतुर समालोचक ही कर सकता है)

† "इयं संध्यादूरादहमपि गतो हंत! मलयात्,
तदेकां त्वद्गेहे करुणवति नेष्यामि रजनीम्।

अर्थ करने वाला एक साधारण पद्य का भी सुन्दर और सुष्ठु अर्थ करके उसमें अपने अनुपम चातुर्य से चारुता की

समीरेणैवोक्ता नवकुसुमिता चूतलतिका,

धुनाना मूर्धानम् नहि नहि नहीत्येव वदति ॥"

इस श्लोक के द्वारा आपने अर्थ करने वाले की चतुरता से कवि एवं उसकी कविता को गौरवान्वित होता हुआ दिखलाया है, पाठक, इसे माधुरी में स्वयमेव देख सकते हैं। इसी प्रकार निम्न पद्यों का चमत्कार भी अर्थ-चातुरी से बढ़ जाता है:—

"जामुनि अन्त न पावैं, पीपर लाई नारि।
बरातरे अब नाची रारि, भला करे करतार॥

यहाँ जामुनि, पीपर, व बरातरे पदों को श्लिष्ट मानने से अर्थ में सुन्दर वैचित्र्य आजाता है—यों ही—"सो मैं सूर सरस मैं काना।

धवलाक्ष मैं ऐंचा ताना॥

ऐंचाताना करै पुकार।

पिंगलाक्ष सों मानी हार॥

जाके उर पै एक न बार।

पिंगलाक्ष तेहि सेवक हार॥

यहाँ भी सूर (सूरदास, सूर्य, अंधा) ऐंचाताना (मुख्यार्थ से शिव, और विकृत नेत्रों वाला) पिंगलाक्ष (भूरे नेत्र वाला, मुख्यार्थ से हनुमान जी) तथा पाँचवें पद (जिसके मुख्यार्थ हैं हरि जिनके उर पर भृगुलता के कारण बाल का रोम नहीं है) पर श्लेष की पुट है और इसी से इसमें सुन्दर अर्थ की स्फूर्ति आगई है। अर्थ करने में चतुरता-प्राप्त सुयोग्य समालोचक ही इस प्रकार के गूढ़ार्थों एवं मर्मों का उद्घाटन कर सकता है, तथा इस प्रकार के समालोचक से ही कवि एवं कविता का गौरव बढ़ सकता है।

चटकीली चमक बढ़ा चढ़ा देता है। जिस प्रकार एक गुणी और कलाकुशल अर्थ करने वाला साधारण सी कविता को भी काया में अपनी मोहिनी मस्तिष्क-माया से छविछटा की छबीली छाया छहरा देता है उसी प्रकार एक दूसरा दुष्ट और अनर्थपूर्ण व्यर्थ के अर्थ करनेवाला एक सुन्दर एवं सलोनी कविता की सविता को भी दूषित कर सकता है*।

यह विश्वास रखते हुये कि उपर्युक्त कथन से—यद्यपि वह बहुत ही सूक्ष्म रूप में ही है—यह सर्वथैव स्पष्ट हो गया होगा कि समालोचना, समालोचक, कवि एवं कविता की परख और कसौटी क्या है, हम अब अपने मुख्य विषय पर आते हैं। हमने वर्तमान कवि-समुदाय में से जिन पाँच कवियों को रुचिर रत्नों के रूप में चुना है वे इन उपर्युक्त गुणों से संयुक्त हैं और समालोचना की खरी कसौटी पर कस लिये गये हैं। यह केवल हमारी ही धारणा नहीं, वरन् अन्य और साहित्य-मर्मज्ञों को भी यही अनुमति है कि ये पाँचों कवि वास्तव में कवि-रत्न कहलाने के सर्वथा योग्य हैं। हम यहाँ उनके गुण-दोष को सूक्ष्मरूप में ही दिखलाना, पर्याप्त समझते हैं क्योंकि लेख बढ़ा जा रहा है। यह आप लोगों पर निर्भर है कि इसको आप मानें या न मानें, क्योंकि मतभेद और रुचि-पार्थक्य तो

---

* देखिये "सर समीप गिरजा-गृह सोहा" इसका अर्थ एक अनर्थकारी व्यक्ति करके कैसा नाश कर सकता है (तालाब के पास एक गिरजाघर या गर्च (church) शोभायमान था) इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु पाठकों के लिये यही एक संकेत रूपी उदाहरण पर्याप्त है।

स्वाभाविक ही है। हम इन चुने हुए रत्नों को भी दो श्रेणियों में यों विभक्त किये देते हैं :—प्रथम तो वे जो ब्रजभाषा के प्रेमी हैं तथा उसी में कविता बनाते हैं। दूसरे वे जो खड़ी बोली के नेमी हैं तथा उसी में कविता रचते हैं। इनके मध्य में कुछ ऐसे भी हैं जो दोनों को अपनाये हुए हैं और आवश्यकता, समय तथा विषय के अनुसार उनका पृथक् पृथक् प्रयोग करते हैं। अब इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हैं जो भाषा-समय के अनुसार भिन्न भिन्न भाषाओं का मधुर एवं सुन्दर समावेश अपनी कविता में रखते हैं। अस्तुः—

ब्रजभाषा-प्रेमी

१—श्रीयुत बा० जगन्नाथदास जी "रत्नाकर" बी० ए०

२—श्रीयुत कविरत्न पं० सत्यनारायण जी

खड़ी बोली-प्रेमी

३—श्रीयुत पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय "हरि औध"

४—श्रीयुत बाबू मैथिली शरण जी गुप्त

दोनों भाषाओं के नेमी

५—श्रीयुत पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा

अब इस स्थान पर हमें यह और कहना है कि हमने यहां ऐसे सज्जनों को भी ले लिया है जिन्हें प्रथम ही बड़ी बड़ी उपाधियां मिल चुकी हैं जैसे कविसम्राट् पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, तथा कविता-कामिनीकान्त पं० नाथूरामशङ्कर जी शर्मा। हमें पं० सत्यनारायण जी के चुनने में कोई भी सोच-विचार नहीं करना

पड़ा क्योंकि इन्हें सभी ने प्रथम ही "कविरत्न" की उपाधि दे दी है। साथ ही हम यह भी कह देना चाहते हैं कि जिन उच्चोपाधिधारियों को हमने कविरत्नों की श्रेणी में रक्खा है वे इससे बुरा न मानें, क्योंकि "कविरत्न" से हमारा मंतव्य उच्चकोटि के कवि से ही है*, अतः उनको हमने घटाकर नहीं रक्खा। ऐसा होते हुये भी हम क्षमाप्रार्थी हैं क्योंकि देखने में तो प्रथम उनका पद कुछ गिरा हुआ सा प्रतीत होता है यद्यपि हमारे भाव के समझने पर यह भ्रम एवं भूल जाती रहती है। साथ ही हम यह भी कह देना चाहते हैं कि हमने कुछ ऐसे महानुभावों को भी छोड़ दिया है जिन्हें अच्छी अच्छी उपाधियां प्राप्त हो चुकी हैं तथा जो रत्नों की श्रेणी में गिने जाते एवं जा सकते हैं जैसे राय देवीप्रसाद जी "पूर्ण", लाला भगवानदीन, पं० गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही", पं० लोचनप्रसाद जी पांडेय, श्री वियोगी हरि, एवं पं० रामचरित उपाध्याय इत्यादि।

उक्त सूची में यदि हम "वर्तमान" शब्द पर विशेषता रखकर स्वर्गवासी कवियों को न रखना चाहें और उन्हें अलग कर उनके स्थान में अन्य किसी कवि को रख कर उस स्थल की पूर्ति करना चाहें तो हमारा विचार व निर्णय पं० सत्यनारायण जी के स्थान पर लाला भगवान दीन जी को रखने के लिए कहेगा, तथा यदि हम पूज्य मिश्रबंधुओं के समान नव रत्न लिखें तो हम अपने पूर्व-

* कविरत्न से यही अर्थ हमारे पूज्य मित्र बंधुओं ने अपने "हिन्दी नवरत्न" में भी लिया है।

परिगणित कवियों में से लाला भगवान दीन जी को जिन्हें हम ऊपर कविरत्न जी के स्थान पर रख चुके हैं, छोड़कर शेष में से प्रथम चार को और लेलेंगे किन्तु यदि उनमें से भी हम स्वर्गीय राय साहब को "वर्तमान" शब्द के कारण न रक्खें तो प्रथम दो को छोड़कर शेष चार को ले लेंगे। अस्तु, यहां हम क्षमा मांगने के लिये फिर उपस्थित होते हैं, क्योंकि हम एक बहुत बड़े कवि को भूल ही गये। वह हैं श्रीयुत पं० श्रीधर जी पाठक, इन्हें हम अपने नवरत्नों में मुख्यस्थान देंगे तथा पं० रामचरित जी उपाध्याय के स्थान पर सुशोभित करेंगे।

आज हमारा मुख्य अभिप्राय केवल वर्तमान युग के पंच-रत्नों को ही प्रकाशित करना है अतः केवल उन्हीं पांचों कवि-वरों पर हम अब आगे कुछ टीका टिप्पणी करते हैं और वह सूत्र-रूप में ही।

१—बाबू जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' बी० ए०

ब्रजभाषा-कविरत्न प्रथम आते हैं। आप हिन्दी साहित्य-मर्मज्ञ, काव्यकला-तत्वज्ञ और ब्रजभाषा में उच्च श्रेणी के कवि हैं। आपको निस्संकोच ही रत्न कहते हैं। आप केवल ब्रजभाषा ही में कविता रचते हैं। साथ ही आप सहृदय-हृदय, सरस और भावुक भी है। आपका "बिहारी रत्ना-कर" अपने रंग ढंग का एक अपूर्व ग्रंथ है। आपका सिक्का ऐसा जमा है कि डा० ग्रियर्सन भी टकसाली मान कर आपके काव्य को चाहते व सराहते हैं। आपके जीवन का वृत्तान्त हम यहां देना व्यर्थ ही समझते हैं, कविता कौमुदी भाग २ इसके लिये सर्वथा उपयुक्त है।

आपकी ब्रजभाषा पूर्णतया साहित्यिक, सुसज्जित और टकसाली होती है। उसमें चातुर्य-माधुर्य का सुन्दर स्रोत बहता रहता है। आपका भाव अनोखा एवं चोखा होता है, मौलिकता की छाप आपकी प्रायः सभी कविताओं में रहती है। अलंकारों से सुसज्जित वाक्य-विन्यास, सजीव वर्णन, भावपूर्ण सार्थक, एवं सुन्दर शब्द संगठन और प्रतिभापूर्ण पदावली का लालित्य देखने सुनने तथा सराहने ही योग्य होता है। जिस रस का वर्णन आप करते हैं उसे भरसा एवं बरसा ही देते हैं। दृश्यों को सामने ही खड़ा कर देते हैं। आपकी वर्णनशैली विचित्र और विनोददायिनी रहती है। आपके "हरिश्चन्द्र" में श्मशान का दृश्य जो वीभत्स तथा भयानक रस से भरा पूरा है देखने ही योग्य है—देखिये आपका हरिश्चन्द्र या कविता कौमुदी भा० २ पृष्ठ २३९।

आपके कवित्त काव्य-कोष के वित्त से भरे व चित्त को चुराने वाले होते हैं और उनमें पद्माकर के कवित्तों की सी छटा तथा छवि छायी रहती है। आप ने पद्माकर से ख़ूब टक्कर ली है और अपने रंग ढंग के अनोखे एवं चोखे कवित्त लिखे हैं। चमत्कृत युक्ति से भरी उक्ति आप ख़ूब दिखलाया करते हैं। रसना-माधुरी, वचन चातुरी के साथ अपूर्व कौतुक एवं कुतूहल करती है।

समय तथा स्थान लाघव से विवश हो हम उदाहरणों का देना तथा विशद समालोचना की अट्टालिका का बनाना उचित नहीं समझते।

आपका सावन में झूले का वर्णन भी बड़ा ही मनोरम और उच्चकोटि का है। माधुरी नामी मासिक पत्रिका में इसे प्रथम स्थान भी प्राप्त हुआ है।

आधुनिक खड़ी बोली के समय में ब्रजभाषा की गरिमा महिमा को अक्षत तथा अचल रखने वालों में आप अग्रगण्य हैं, और ब्रज-भाषा की सुकविता के आप एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैसे आपकी मर्मस्पर्शिनी कविता रस से परिप्लावित है वैसे ही आपका मानस भी रस से परिपूर्ण है, आपके स्वभाव एवं प्रकृति का सच्चा सुन्दर तथा पूरा प्रतिबिम्ब आपकी कविता के दर्पण पर पड़ता है। आप प्रायः कवि सम्मेलनों में सभापति बनाये जाते हैं, यह आपके प्रति हिन्दी-काव्य-प्रेमियों के प्रेम का पूर्ण परिचय देता है तथा यह बतलाता है कि आप का मान-सम्मान हिन्दी संसार में पर्याप्त रूप से किया जाता है। आपको अभी ही आपकी 'गंगा-घतरण' नामी ब्रजभाषा-काव्य की पुस्तक पर १०००) अयोध्या की रानी साहबा तथा ५००) हिन्दुस्तानी एकाडमी से पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुआ है।

हम क्या कहें, आपकी कविता ही उच्चस्वर से यह कह रही है कि आप 'कवि रत्न' हैं, ब्रजभाषा पर आपका पूर्णाधिपत्य है। उसमें किसी प्रकार की शिथिलता, निरर्थकता तथा नीरसता नहीं आने पाती। दीपावली तथा गोधन पर आपकी कवितायें जो माधुरी में प्रकाशित हो चुकी है अपने ढंग की अनोखी ही हैं।

आपकी विचार एवं भावों के प्रकाशन की रीति-नीति बड़ी ही रुचिर तथा रोचक है। भाव की उत्पत्ति ही प्रथम बहुत कठिनता से होती है और यदि वह किसी में हुई भी तो उसका शब्दों में प्रकाशित तथा भाषा में अनुवादित हो कर मनमंदिर से बाहर आना बहुत ही कष्टसाध्य होता है। कवि में यही बात तो विशेष प्रशंसनीय हुआ करती है कि वह साधारण से साधारण भाव, विचार तथा बात को बड़े ही विलक्षण एवं विचक्षण ढंग से प्रगट किया करता है। रत्नाकर जी में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है।

२—कविरत्न पं० सत्यनारायण जी

आपके विषय में हम बहुत न कहेंगे क्योंकि आपके काव्य-प्रतिभा की समालोचना बहुत पर्याप्त रूप से हो चुकी है और आपको सर्वसाधारण ने कविरत्न मान ही लिया है। अतएव हमारे प्रमाण की आवश्यकता कुछ बहुत अधिक नहीं रही। आप ब्रज-भाषा के बड़े उच्चकोटि के कवि माने गये हैं। विशेषता यह है कि आपने ब्रजभाषा में वे विषय भी रख दिये हैं जिनका प्रथम उसमें अभाव था, आपकी कविता का प्रत्येक शब्द स्वदेशानुराग के पराग के चूर्ण से परिपूर्ण है। पं० रामनरेश त्रिपाठी तो अपनी कविता-कौमुदी में यों लिखते हैं "कविरत्न जी को ब्रजभाषा का अंतिम कवि कहना चाहिये उनकी रचना सरस, मधुर और ओज पूर्ण है।" हम इतना तो नहीं कहते, हां यह अवश्य कहते हैं कि आप ब्रजभाषा के एक रत्न अवश्य हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारी

व्रजभाषा आपके तथा रत्नाकर जी के समान अभी और कई कविरत्न उत्पन्न कर अपनी कीर्ति-कौमुदी को चारों ओर कलित करेगी।

आपका "भ्रमर गीत" बहुत ही सुन्दर, सरस एवं भावपूर्ण है। आपके पदों में स्वाभाविकता तो कूट कूट कर भरी है, आप इस प्रकार लिखते हैं मानो कोई भुक्त-भोगी लिख रहा हो और बात भी ऐसी ही है। अनेक स्थल आत्मानुभव से पूर्णतया परि-पालित हैं और उनके जीवन के सच्चे चित्र हैं। भाषा तथा देश के प्रेम को उठाकर आपने व्रजभाषा की कविता में भी भर दिया है, जिससे उसकी एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो गई है। व्रजभाषा-प्रेमी कविरत्न जी कृष्ण-भक्त भी थे और होना ही चाहें, थे भी तो वे श्रीकृष्ण जी की व्रजभूमि के निवासी।

स्वतंत्रता की धारा सी आपने अपनी कविता में बहा दी है। करुणा रस लिखने में आपने अच्छी योग्यता एवं कुशलता का परिचय दिया है। प्रकृति के दृश्यों का नैसर्गिक वर्णन भी आपने बहुत ही बढ़िया किया है। कहीं कहीं पर आपने खड़ी बोली को भी अपना लिया है और उसमें भी कुछ कविता कर डाली है, और उसमें भी अपनी प्रतिभा प्रत्यक्ष कर दी है।

छोटी पुस्तकों तथा स्फुट कविताओं को छोड़कर आपकी पुस्तकें जैसे देशभक्त होरेशस, उत्तर रामचरित नाटक (संस्कृत से अनुवादित) तथा मालती माधव (संस्कृत से अनुवादित) विशेष महत्वपूर्ण है। आपकी स्फुट कविताओं का भी एक

संग्रह छप गया है, जिसका नाम "हृदय तरंग है" इसकी भूमिका तथा कविरत्न जी की जीवनी पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के द्वारा लिखी गयी है और वह पढ़ने लायक है।

हम आपकी कविता के उदाहरण देना उपयुक्त नहीं समझते क्योंकि पाठकों ने आपके हृदयतरंग में अवश्य ही लहरें ली होंगी।

हम कह ही चुके हैं कि यदि इन्हें, "वर्तमान" की विशेषता स्वीकार करके हम अपनी सूची में न रक्खें तो इनके स्थान की पूर्ति हम लाला भगवान दीन जी से कर सकते हैं। अतः हम यहाँ आपके भी काव्य-कौशल की सूक्ष्मालोचना करते हैं।

(२) लाला भगवानदीन "दीन"

आप काव्य-मर्मज्ञ और अलंकाराचार्य हैं, 'अलंकार मंजूषा' नामी पुस्तक आपने अच्छी लिखी है, यद्यपि वह केवल बालकों के ही योग्य है। आप उर्दू व फारसी के भी विद्वान हैं। आप उर्दू में भी शायरी करते हैं, विचित्रता की बात यह है कि आप उर्दूदां होकर भी हिन्दी के एक विद्वान कवि हैं। आप खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों ही में कविता करते हैं। आप आजकल हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं।

आपकी कविता में भाषामाधुर्य, कला-चातुर्य, अलंकारों की लड़ी तथा सुशब्दों की झड़ी सी लगी रहती है। भाव भी अच्छा एवं अनोखा रहता है। समस्या-पूर्ति में आप बड़ी पटुता रखते हैं तथा कलाकुशलता दिखलाते हुये शब्दों पर अच्छा कुतूहलपूर्ण कौतुक करते हैं।

"मनोरमा" के पिछले एक अंक में छपी हुई आपकी "पनिहारिन" शीर्षक की कविता अत्यन्त सरस तथा भावमयी है। आपने "मोटर पंत्रक" तथा "चरखाष्टक" में अच्छे रूपकों को रचना रुचिर एवं रोचक रूप से रचायी है। आप बड़े ही मनचले और रसिक हैं, अतः आपकी कविता भी वैसी ही मज़ेदार होती है। हां उसमें उर्दू का प्रभाव अवश्य पड़ा रहता है।

एक चावल ही बटलोई में परखा जाता है। 'Quality is to be appriciated and not quantity', 'गुणाः पूजास्थानं', गुण ही प्रशस्त होता है न कि परिमाण, बढ़िया या अच्छी मिठाई चाहे छटाक भर ही क्यों न हो चाही एवं सराही जायेगी, परन्तु बहुत सी मिठाई तो हो किन्तु गुण में घटिया हो तो फेंकने ही के योग्य होगी 'It is better to write less but wise and artistic than to write much but foolish and charmless.'

आप युक्तिपूर्ण उक्तियों के बड़े ही प्रेमी हैं, श्लेष, अपन्हुति, यमक, और रूपकादिक अलंकार आपको बहुत पसंद हैं। आप आधुनिक खड़ी बोली की नवीन कविता-प्रणाली के कट्टर विरोधी हैं तथा ब्रजभाषा के पूर्ण पक्षपाती हैं। खड़ी बोली का प्रयोग आप उर्दू की बहरों या शेरों ही में करते हैं, तथा हास्य रस के लिये ही उसे रख छोड़ते हैं। शृङ्गार रस के आप भक्त हैं। चमत्कार से शून्य कविता को आप अच्छी कविता ही नहीं मानते, और वस्तुतः बात भी यही है। आपकी कविता में इसी से चमत्कार-चातुरी सदैव चमचमाती रहती है। हां यह बात अवश्य है कि आप कभी

कभी अलंकारों के चक्कर में चक्कर खा कर भाव को भी भूल जाते हैं। साथ ही कभी कभी उर्दू की नाज़ुक खयाली तथा लोचलचक भी आपकी हिन्दी कविता में तशरीफ़ ले आती है।

आपने अपने "सूक्ति सरोवर" में अपनी कविता का चमत्कार कुछ स्वल्प रूप से सूचित किया है, और वहां पर अपनी सुन्दर सुन्दर वे उक्तियाँ दी हैं जिन पर अपनी मौलिकता की मुहर लगाई है।

२—कविसम्राट् पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय "हरि औंध"

आपकी कविता की समालोचना हम बहुत विशद रूप से यहां क्या करें क्योंकि समय समय पर कई पत्र पत्रिकाओं में आपकी समालोचना हो ही चुकी है तथा आपको 'साहित्याचार्य' और 'कविसम्राट्' की उपाधियां भी मिल चुकी हैं। आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने का भी सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। आपका साहित्य में स्थान भी निश्चित ही सा हो गया है। अतः हम केवल कुछ थोड़ी ही बातें आपकी कविता के विषय में कहना चाहते हैं। आप खड़ी बोली में अतुकान्त कविता के महाकवि माने जा चुके हैं और प्रमाण रूप में आपका महाकाव्य "प्रियप्रवास" विद्यमान ही है, किन्तु हमें उसके विषय में यह और कहना है कि उसकी भाषा एक प्रकार से अत्यंत क्लिष्ट होकर मिष्ट एवं इष्ट नहीं प्रतीत होती। उसमें संस्कृत-तत्सम शब्दों का एक बड़ा विशाल जाल सा फैला है, एक प्रकार से वह Sanscritised Hindi में लिखा गया है, कहीं कहीं पर व्याकरण की त्रुटियां भी खटकती

हैं, कहीं कहीं पर शब्द गढ़ से लिये गये हैं जो ऐसी शुद्ध एवं परिमार्जित भाषा के बीच में बेमेल होकर खटकते हैं, इससे कहीं कहीं पर भाषा शिथिल सी हो गयी है। वैसे तो सारा ग्रंथ रस, या विशेषतया करुणारस से पूर्णतया परिप्लावित और भाव से भरा हुआ है, वर्णन शैली तथा वाक्यविन्यास अच्छा है, हां, लम्बी लम्बी समासें तथा क्लिष्ट शब्दों से कहीं कहीं उसकी मधुर मृदुता मारी गई है। समस्त काव्य संस्कृत-प्रिय वर्णिक वृत्तों में ही लिखा गया है जैसे द्रुतविलंबित, शिखरिणी, मालिनी आदि। कल्पनायें आपकी सलोनी, सुन्दर तथा अधिकांश में मौलिक हैं, हां कहीं कहीं के कुछ अंश संस्कृत कवियों से अवश्य ले लिये गये हैं। फिर भी यह खड़ी बोली का अवश्य ही एक अच्छा काव्य है।

आपके चोखे चौपदे, अतुकान्त होकर लोकोक्तियों और मुहाविरों के प्रयोगों से पूर्ण परिचय कराते हैं, साथ ही वे भाव-पूर्ण भी हैं। आपकी स्फुट कविताओं का भी संग्रह "पद्यप्रसून" के नाम से निकल चुका है, "बोलचाल" तथा "वैदेही वनवास" दो पुस्तकें आप और लिख रहे हैं। आप में यह गुण विशेष है कि आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की कविता अच्छी लिख लेते हैं।

आप प्रथम ब्रजभाषा में ही कविता करते थे, फिर खड़ी बोली में कविता बनाने लगे और यों दोनों ही में आपने अच्छी कीर्ति कमाई, इधर कुछ दिनों से चौपदों के चक्कर से किसी प्रकार छूट कर आप फिर ब्रजभाषा में कविता करने लगे हैं। सामयिक पत्र

पत्रिकाओं में आपकी कवितायें अच्छा स्थान पाती हैं। राष्ट्रीय भावों पर भी आप बड़ी ज़ोरदार भाषा में लिखते हैं। उदाहरण देने की कोई बहुत आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रायः प्रत्येक-साहित्य-प्रेमी आपकी कविता से पूर्णतः परिचित ही होगा। केवल गुणादि का दिखलाना ही पर्याप्त है। इन्हीं गुणों की प्रतिभा आपकी कविता में जो चाहे देख ले और फिर अपना विचार पक्का कर के आपके स्थान का (साहित्य में) निश्चय कर ले। हाँ, हम इतना और कह देना चाहते हैं कि आप की ब्रजभाषा-कविता में अनुप्रास का अच्छा समावेश होता है, और मुहावरों का प्रयोग भी बड़े मार्के का आपकी खड़ी बोली की कविता में मिलता है। हाँ कहीं २ ब्रजभाषा के शब्द तथा उनका प्रभाव आप की खड़ी बोली में भी प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है।

४—बाबू मैथिली शरण गुप्त

आपने खड़ी बोली की कविता में विशेष पटुता एवं ख्याति प्राप्त की है। आपकी भाषा भी बहुत सुन्दर, मँजी हुई तथा बामुहाविरा होती है। उसमें शिथिलता इतनी न्यूनता में है कि वह न होने के ही बराबर है, कहीं २ पर आप अहो, आदि शब्द प्रायः बहुत लाते हैं। यह तो मानना ही पड़ता है कि आपका तुकों पर बड़ा भारी अधिकार है, जैसे सुन्दर और उत्तम तुकान्तों का आपने प्रयोग किया है वैसे बहुधा बहुत कम नये कवि कर सके हैं और कर पाते हैं। तीन तीन, चार चार अक्षरों तक आप के तुकों में समानता चली जाती है। यद्यपि आप शुद्ध संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग-बाहुल्य रखते हैं तथापि आपकी कविता

छिद्र नहीं होने पाती और सर्व साधारण की भी समझ के भीतर ही रहती है। यही कारण है कि आप की ख्याति भी सर्व साधारण में बहुत विस्तृत है। आपकी कविता में व्याकरण के नियम कभी कहीं और किसी प्रकार भी नहीं टूटने पाते। आप पूर्णतः व्याकरण के नियमानुकूल ही रहते हैं, और ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें पर्याप्त ओज, प्रभाव एवं प्रतिभा प्रतिभाति होती रहती है।

आप संस्कृत का भी पर्याप्त ज्ञान रखते हैं और उस ज्ञान को प्रयोग में भी बड़ी अच्छी तरह लाते हैं।

खड़ी बोली की कविता में भी आपने उसका अच्छा उपयोग कर दिखाया है, आपकी वर्णन-शैली भी बड़ी ही मनोहारिणी होती है। आपकी रचित "भारत-भारती" भारतव्यापी हो गई है और उसने प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के हाथों में अपना टिकाश्रय बना लिया है। किसी भी दृश्य, समय तथा परिस्थित का चित्र आप बड़े ही विचित्र रंग ढंग से खींचते हैं, भारत-भारती में भारत तथा भारतीय समाज का चित्र-चित्रण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह सब होते हुये भी वह साहित्य में कुछ बहुत उच्चस्थान पाने के योग्य नहीं ठहरी।

"जयद्रथ-वध" में आपने करुणा तथा वीर रस का अच्छा समावेश एवं निर्वाह किया है, उसे पढ़ कर हृदय पिघल तथा फड़क जाता है। आपकी कविता में अलंकारों की भी कुछ छटा छाई रहती है, किन्तु उसमें कला-कौशल एवं चातुर्य-चमत्कार नहीं रहता।

आप वर्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के छंदों के लिखने में सिद्ध-हस्त हैं। आपकी भाषा ओजस्विनी और भावपूर्ण होती है। वाक्यविन्यास, शब्दसंगठन, तथा पद-लालित्य आपका अच्छा है। कहीं कहीं यह अवश्य हुआ है कि आपने प्राचीन संस्कृत कवियों के भाव ज्यों के त्यों ही ले लिये हैं:—शय्यावसन संघर्ष से जो हो रहे अति क्षीण थे। उन अंगरागों से रुचिर यों अंग उनके पीन थे।

(शय्योत्तरोच्छद विमर्द कृशाङ्गरागम्—कालिदास)

समय, देश, तथा समाज की गति का ज्ञान आपको अच्छा रहता है, इसी से आपकी सामयिक कवितायें बड़ी चुभती हुई और चुस्त होकर हृदयङ्गम हो जाती हैं। राष्ट्रीय भावों की भी अच्छी जाग्रति आपकी कविताओं ने कर दी है। देश-प्रेम और जातीयता पर भी आप अपने ढंग के एक ही कवि हैं। आदर्शवाद के प्रेमी होकर आप आदर्श पुरुषों के चरित्रों का अच्छा चित्रण करते हैं और सदाचार एवं शुद्धाचरण की महत्ता एवं सत्ता को कभी नहीं भूलते। आप जनता के हृत्पटलांकित अभीष्ट भावों को पढ़ लिया करते हैं और उन्हीं के अनुकूल कविता में आपने भाव रख कर ज़बरदस्ती हृदयों में पैठ एवं बैठ जाते हैं।

इधर मैंने आपकी हाल ही में लिखी हुई "पंचवटी" नामी पुस्तक देखी और उसकी समालोचना भी "अभ्युदय" में छप-वाई थी। इसमें आपने सीता, राम, और लक्ष्मण के बीच मज़ाक़ करा दिया है, यद्यपि वह बहुत शिष्ट और सुन्दर शब्दों में बड़े चातुर्य एवं माधुर्य के साथ रक्खा गया है तथापि उसके कारण

आपकी रचना में परम्परा से चली आने वाली पद्धति के तोड़ देने से दोष आ गया है तथा उसके कारण एक आदर्शोच्च सिद्धान्त भी भंग हो गया है। लक्ष्मण जी श्रीजानकी जी को माता के समान मानते थे। "कुंडलं नैवजानामि, नैवजानामि कंकणम्। नूपुरमेवहि जानामि, नित्यंपादाभिसेवनात्॥" कहाँ यह आदर्श और कहाँ आजकल के देवर भावज के नाते से पुष्ट होकर मज़ाक! कवि जिस समय, जिस समाज, जिस व्यक्ति तथा, जिस देश का वर्णन करे उसे उसी का सच्चा चित्र चित्रित करना चाहिये, न कि अपने मन के अनुसार कर बैठना चाहिये। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और प्रायः सभी सुन्दर और श्लाघ्य हैं। आपने यदि खड़ी बोली को अपनाया है तो उसी प्रकार सच्चे दिल से अपनाया है जैसे रत्नाकर जी ने व्रजभाषा को, फिर आपके प्रेम में दूसरी भाषा स्थान व भाग नहीं पा सकी, यह एक विशेष प्रशंसनीय बात है। नहीं तो प्रायः नये कवि व्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं को साथ रखते हैं। जिससे कवि में भाषा में अधिकार रखने की न्यूनता ज्ञात होती है।

आप सरस्वती के पूर्व संपादक पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के परमप्रिय पात्रों एवं मान्य शिष्यों में हैं। आपने उन्हीं को अपना "जयद्रथ वध" समर्पित भी किया है।

५—कविता-कामिनीकान्त पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा

आपके विषय में भी मैं विशेष क्या लिखूँ, सभी जानते व मानते हैं कि आप "कविता-कामिनी-कान्त" हैं, मैं इन्हें

कविरत्न ही कह कर क्यों अपराधी बनूँ, मैं तथापि क्षम्य हूँ क्योंकि जैसा मैंने प्रथम ही कहा है, "रत्न" से मेरा मंतव्य बहुत उच्च कोटि के कवि से है। कह सकते हैं कि आप काव्याचार्य हैं तथा पिंगल-मर्मज्ञ और कवि-कुल-गुरु हैं। आपने अनेक नवागत छंदों का नामकरण संस्कार भी किया है, इसीसे ऊपरोक्त उपाधियाँ आप के लिये मैंने उपयुक्त विचारी हैं। आपको उपाधियों की आवश्यकता नहीं क्योंकि उनका पर्याप्त भार आप के सिर पर प्रथम ही से लदा हुआ है।

"कविराज" "भारत प्रज्ञेन्दु" "कविशिरोमणि" आदि उपाधियों से आप विभूषित किये ही जा चुके हैं। आप एक प्रकार से आशु कवि हैं—मानो कविता आपके वश में ही है इसीसे "इन्हें कविता-कामिनी-कान्त" भी कहते हैं।

खड़ी बोली के उत्कट कवि होते हुये भी आप पिंगल के बड़े कड़े २ नियमों का निर्वाह करते हैं और काव्य में पिंगल-क्रम को भ्रान्तिकारी कहने वालों के कट्टर विरोधी है। नियमों की कोई आवश्यकता नहीं, न इनका पालन करना ही कवि का कर्तव्य है, इनके होने से कवि स्वातंत्र्य का ह्रास एवं नाश हो रहा है, आप ऐसा नहीं मानते।

एक कठिन नियम जो आप पालन कर रहे हैं यह है कि आप मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों में वर्णों की संख्या समान रखते है। मात्रिक वृत्तों में इस नियम का निर्वाह बहुत ही कष्ट साध्य है। आप इसमें बहुत कुछ सफल भी हुये हैं।

समस्या-पूर्ति करने में आप बड़े ही सिद्ध-हस्त हैं, एक समस्या की पूर्ति अनेक प्रकार से अनेक रसों में कर सकते हैं। आपकी कल्पनायें बड़ी ही अनोखी, मौलिक और चोखी होती हैं।

भाषा के विषय में हमें यह कहना है कि आप दोनों प्रकार की, मिश्रित तथा अपने मन की निराली भाषा भी व्यवहृत करते हैं। प्रथम तो आप व्रजभाषा में ही कविता बनाते थे, किन्तु अब इधर केवल समस्याओं को छोड़ कर आप सर्वत्र खड़ी बोली को ही प्रधान्य दे रहे हैं। आपकी भाषा में कहीं २ पर नये गढ़े गढ़ाये, और उद्दंड शब्द भी आ जाते तथा कर्ण-कटु शब्द भी मिल जाते हैं।

आपका हास्य रस अच्छा होता है, शृङ्गार भी आप अच्छा दर्शाते हैं। कविता (समस्यापूर्त्ति) में चातुर्य बड़ा ही अनूठा रहता है। आप आर्य समाजी हैं अतः सनातन धर्म पर आक्षेप अवश्य कर बैठते हैं, परन्तु वह बड़े ही विचित्र ढंग से। समाज-सुधार आपका मुख्य विषय है। अतः आपकी कविता में व्यंग और ध्वनि का अच्छा समावेश रहता है, साथ ही उसमें शिक्षायें और सिद्धान्त भी अपना पृथक् स्थान रखते हैं अतः आपकी कविता एक प्रकार से Didectic Poetry कही जा सकती है।

अब मैं केवल दो शब्दों में यह बतला देना चाहता हूँ कि मैंने नामों का जो क्रम रक्खा है वह भाषा के विचार से है। व्रजभाषा के

कवियों को प्रथम स्थान इसलिये दिया है कि व्रजभाषा काव्य प्राचीन है। इसके अनन्तर खड़ी बोली के कवियों को सुशोभित किया गया है, तदनन्तर दोनों भाषा के कवियों को। कविता के गुण दोष तथा कवित्व-शक्ति की महत्ता के अनुसार स्थान नहीं दिया गया और न मैं यहाँ वैसा करना समुचित ही समझता हूँ। यह निश्चित करना कि कौन प्रथम, कौन द्वितीय, कौन तृतीय, कौन चतुर्थ तथा कौन पंचम श्रेणी का है, तनिक कठिन बात है और विवाद-वर्धक विषय है। रुचि-वैचित्र तथा अपनी प्रेम पूर्ण रुचि का किसी विशेष ओर झुकाव इसमें अपना २ पूरा प्रभाव डालते हैं। निष्पक्ष हो कर समालोचना करना यदि असाध्य और असम्भव नहीं तो उसके निकट की ही बात है। साथ ही अभी इन कविरत्नों के द्वारा भाषा काव्य का और अधिक विकाश-प्रकाश बढ़े एवं बढ़ेगा, अतः अभी ही से इनका स्थान निश्चित करना सर्व-तोभद्र नहीं, सम्भव है कि हमारे ये कविरत्न अभी कोई नया और महान आविष्कार भाषा-काव्य के विस्तृत क्षेत्र में कर सकें, अतः अभी ही से इन्हें किसी विशेष स्थान पर रखना भ्रमात्मक ही होगा।

इन कवियों की कविताओं एवं काव्य-ग्रंथों से यह प्रत्यक्ष ही है कि हमारा काव्य-साहित्य विकास कर रहा है, उसमें नवीन जीवन-ज्योति आ रही है। हाँ यदि साधारणतः उमड़ते हुये नव-युवक-कवि समाज को देखा जाये तो यह मानना ही पड़ेगा कि कविता गिर रही है, और पद्यबद्ध-गद्य का प्रचार बढ़

रहा है, कहीं कहीं एवं किसी किसी अंश में यह बात नहीं भी है। हमें तो आशा यही है कि हमारा पद्यसाहित्य गद्यसाहित्य के साथ ही साथ उन्नत ही होता चलेगा, और हमारी यही मंगल कामना एवं सदिच्छा भी है कि हमारे भाषा काव्य की दिनों दिन वृद्धि ही हो।

आधुनिक गद्य साहित्य एवं शैलियों का विकाश

(लेखक—बालता प्रसाद शुक्ल एम० ए०)

समय की गति संसार में न जाने कैसे कैसे परिवर्तन उपस्थित कर देती है। कहाँ कविता का वह अखण्ड राज्य और कहाँ आज कल का यह 'गद्य-युग' जिसमें कविता को भी कभी कभी 'गद्य-रूप' धारण करना पड़ता है, परन्तु इतने पर भी तो परिवर्तन का यह अस्थिर चक्र स्थिर नहीं होने पाता। गद्य में भी हम नित्य परिवर्तन ही देखते हैं। तेरहवीं शताब्दी का वह प्राचीन गद्य बाबा गोरख नाथ जी के समय में कुछ और हो गया था; और वही गोरख नाथ जी के समय का गद्य विट्ठल नाथ और गोकुल नाथ जी के समय में बिल्कुल ही दूसरा होगया था। यह ब्रजभाषा का गद्य यद्यपि अपने समय की कविता की भाषा का द्वेषी न था तथापि राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह जी के हाथों में पड़कर उसे भी कुछ से कुछ हो जाना पड़ा था। अपने समय में इन लोगों ने गद्य को वह रूप प्रदान किया था जो उनके अनुमान से एक दिन देशव्यापी विस्तृत रूप का धारण करने वाला होगा और जिसे वे समझते थे कि शायद अधिक विकृत न होना पड़ेगा, परन्तु उनका यह अनुमान सत्य न हो सका। उनके कुछ ही समय के पश्चात् हमारे आधुनिक युग के प्रव-

तक बा० हरिश्चन्द्र जी ने अपने हाथों से इसे इतना अधिक परिवर्तित कर दिया कि जिसे देख कर राजा शिवप्रसाद शायद पहचान भी न पाते। अस्तु। यहाँ भी परिवर्तन का अन्त न हो सका। आज के दिन तक हम देखते हैं कि शैली एवं विषय में निरन्तर ही परिवर्तन होते जाते हैं, जो कुछ आज है वह कदाचित् कल न रह सकेगा और जो कल होगा वह शायद परसों बदल दिया जायगा।

साहित्य का यह परिवर्तन सहसा एवं निष्कारण ही नहीं हुआ करता; और साहित्य में ही क्यों, संसार की प्रायः सभी वस्तुओं में परिवर्तन का नियम एक सा ही है। यहाँ पर प्रत्येक वस्तु किसी न किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर अवश्य है। इसीलिये यदि एक में कुछ परिवर्तन होता है तो दूसरी में भी उसका होना आवश्यक हो जाता है। साहित्य एवं समाज का बड़ा ही घना सम्बन्ध है। कोई कोई विद्वान तो यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि इन दोनों को एक दूसरे का कारण ही समझने लगते हैं। हम यदि इन्हें एक दूसरे का कारण न भी समझें तो भी कम से कम इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि एक दूसरे को बनाना अथवा बिगाड़ना बहुत कुछ इन्हीं दोनों पर निर्भर है। साहित्य यदि समाज की रुचि को बनाता है तो समाज की रुचि भी साहित्य के बनाने में अपना प्रमुख भाग रखती है। परन्तु इन दोनों पर केवल इन्हीं दोनों का पारस्परिक प्रभाव नहीं पड़ा करता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो इन दोनों के

परिवर्तन का क्रम निश्चित हो सा हो जावे, परन्तु ऐसा न होकर हम देखते हैं कि देश और काल का प्रभाव भी इनके परिवर्तन में अपना यथेष्ट भाग रखता है।

परिवर्तन के इन दार्शनिक सिद्धान्तों का महत्व आधुनिक गद्य साहित्य के विकाश में भली प्रकार प्रस्फुटित होता है।

यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दी गद्य के कतिपय नमूने १३ वीं शताब्दी से ही मिलने लगते हैं। परन्तु इन नमूनों के अतिरिक्त उस समय के किसी गद्य-साहित्य का पता अभी तक नहीं चलता। गद्य साहित्य का पता तो ठीक ठीक गोकुल नाथ जी के समय से ही लगता है, परन्तु हमें तो आधुनिक गद्य-साहित्य एवं उसकी शैलियों का विकास दिखाना ही यहाँ अभीष्ट है अतः उस समय की चर्चा का न उठाना ही अच्छा है।

वास्तव में गद्य का आधुनिक युग सन् १८७० ई० में प्रारम्भ होता है। यही समय बा० हरिश्चन्द्र का था। इस समय के गद्य-साहित्य का निर्माण किन किन बातों पर निर्भर था यह जानने के लिये उस समय की देश एवं समाज की दशा का भली भाँति समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, साहित्य के विकास में ये सभी बातें कारण-स्वरूप होती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों का यह समय वह था जब कि 'लिबरल पार्टी' की सत्ता इंगलैंड में अपने सर्वोच्च शिखर

को पहुँच रही थी। राजा राममोहन राय पाश्चात्य देशों में भ्रमण करके वहाँ से अपने नवीन राजनैतिक अनुभव को लेकर लौटे थे। भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये नवयुवकों के हृदय में पाश्चात्य साहित्य के साथ ही साथ पाश्चात्य राजनीति एवं राजनैतिक जागृति स्थान पा चुकी थी। देश के निवासियों में चारों ओर स्वातंत्र्य के उद्योग की धुन सी समाई हुई थी। इसी जागृति का फल था कि देश में 'राष्ट्रीय महासभा' अर्थात् Indain National Congress का जन्म हुआ। इसी समय में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जी अपने सामाजिक सुधारों की आयोजना बड़ी दृढ़ता से कर रहे थे और दूसरी ओर ईसाइयों और मुसलमानों के उपद्रवों से ऊब कर स्वामी दयानन्द जी ने अपने आर्य समाज की स्थापना की थी।

गद्य साहित्य के विकस की दृष्टि से ये घटनायें बड़े महत्व की थीं, क्योंकि इन घटनाओं के पहले देश में एक प्रकार की शिथिलता सी छा गई थी, जिसके कारण जीवन में किसी भी नई आयोजना का विधान असम्भव सा हो गया था, परन्तु इन घटनाओं के होते ही देश में नवीन प्राण सा आ गया। जागृति के साथ ही साथ देशवासियों में नवीन उत्साह भी भर गया और अब लोग नवीन उमगों एवं स्फूर्ति के साथ जीवन की दौड़ में भाग लेने लगे। अतः साहित्य में भी नवीन विचारों एवं नवीन शैलियों का प्रादुर्भाव स्वाभाविक ही सा हो गया।

पहले की अपेक्षा अब साहित्य का सारा कलेवर ही बदला हुआ जान पड़ने लगा। भाषा का व्याकरण ज्यों का त्यों होते हुये भी शैली, शब्द और विषय में बड़ा अन्तर पड़ गया। दिन प्रति दिन उसमें एक प्रकार की पटुता सी आने लगी। इस वृद्धि को देख कर सहसा ही कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि हिन्दी-गद्य भी अब समय की रुचि के साथ जीवन की दौड़ में भाग ले रहा है। ठीक इसी के विपरीत पहले के साहित्य में हम एक प्रकार का शिथिल प्रयास एवं नैरस्य भी पाते हैं। उपरोक्त घटनाओं ने देशवासियों में स्वोन्नति का भाव जागृत कर दिया था। अब तो पाश्चात्य सभ्यता के परम उपासक अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग भी देश में एक भाषा के पवित्र भाव से प्रेरित हो कर इस ओर झुके, परन्तु यहाँ पहले पहल चारों ओर न्यूनता ही देख पड़ी। परन्तु और त्रुटियों का दर्शन अब लोगों को निराश न कर सका; वरन् चारों ओर दृढ़ता से उन त्रुटियों के मिटाने का प्रयत्न किया जाने लगा।

इन देशभक्तों की प्रथम उमंगों का मनोहर चित्र हमें उनके लेखों में मिलता है, क्योंकि इस समय के प्रायः सभी लेखक किसी न किसी पत्र अथवा पत्रिका का सम्पादन करते थे, और उनमें निबन्धों के रूप में वे अपने हृदय के भावों को देश के सम्मुख रखते थे। इस समय के लेखकों में बा० हरिश्चन्द्र, पं० प्रताप नारायण मिश्र, बा० देवकीनन्दन, बा० बालमुकुन्द गुप्त, और पं० रामशंकर व्यास इत्यादिक कतिपय लेखक सर्वोत्तम गिने

जाते थे। यों तो इस समय में भी न जाने कितने लोग हिन्दी की सेवा में लगे हुये थे परन्तु प्रत्येक का वर्णन इस छोटे से लेख में सम्भव नहीं।

इन उपरोक्त निबन्धों के विषय सर्वदा राजनैतिक अथवा धार्मिक ही नहीं हुआ करते थे, वरन् कभी कभी तो साहित्यिक एवं सरस विषयों पर भी बड़े ही सुन्दर लेख लिखे जाते थे। उनकी भाषा बड़ी ही रसीली होती थी और कहने का ढंग भी बड़ा ही अनूठा होता था। इस समय की पत्रिकाओं में संस्कृत-साहित्य की चर्चा प्रायः अधिक हुआ करती थी।

इन निबन्धों के अतिरिक्त बा० हरिश्चन्द्र आदिक कुछ विद्वान नाटक भी रचने लगे थे। पूर्वकाल के नाटकों की भाँति वे केवल नाम मात्र के ही नाटक न थे, वरन् उनमें से कुछ तो बहुत ही अच्छे हैं। इन नाटकों के विषय एवं भाव नवीन तो थे किन्तु इनकी शैली संस्कृत की ही थी; और कुछ तो संस्कृत के नाटकों के आधार पर ही लिखे गये थे। अभी नाटकों में कला का प्रवेश नहीं हुआ था। अभी तो वे प्रायः देश अथवा समाज के सुधार के निमित्त ही लिखे जाते थे। बा० हरिश्चन्द्र के नाटकों में तो पग पग पर यही भाव देख पड़ता है।

इसी समय बा० देवकीनन्दन ने उपन्यासों की भी सृष्टि-रचना प्रारम्भ कर दी थी, परन्तु इनके उपन्यासों का उद्देश्य देश अथवा समाज का सुधार न था। उनकी कथाएँ बड़ी ही रोचक एवं

वैचित्र्य पूर्ण थीं। ऐय्यारी की कला दिखाना ही उनका प्रधान उद्देश्य था।

इस जागृति के समय में ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का क्या कारण हो सकता है यह प्रश्न बड़े ही महत्व का है। वास्तव में उपन्यासों की सृष्टि उर्दू साहित्य में हिन्दी से पहले हुई थी, और उर्दू 'नाविलों' का सब से अधिक भड़कीला अंश उनके 'कथा-वैचित्र्य' में ही था, न केवल 'नाविलों' में ही वरन् उर्दू साहित्य के प्रायः सभी अंगों में "वैचित्र्य" ही एकमात्र कसौटी है। यद्यपि हिन्दी में तथा अन्य साहित्यों में समय की रुचि के अनुसार "वैचित्र्य" की कसौटी बदलती गई और यहां तक बदली कि आज साहित्य के प्रायः प्रत्येक अंग की परख "वास्तविकता" और "स्वाभाविकता" की कसौटी पर ही की जाने लगी है, परन्तु उर्दू साहित्य की कसौटी आज भी वही है। अस्तु, जहां तक अनुमान होता है बा० देवकीनन्दन जी ने उर्दू के "नाविलों" से प्रभावित होकर ही अपने उपन्यासों की रचना की थी।

यहां पर इतना मानते हुये भी हमें एक बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि उर्दू का "कथा-वैचित्र्य" बा० देवकीनन्दन आदि के हाथों में पड़कर बिल्कुल बदल सा गया था। उर्दू की "चञ्चल-असत्यता" के स्थान पर हिन्दी में एक प्रकार की "गम्भीर मार्मिकता" सी आगई थी, इसी कारण हिन्दी के पाठकों

को ऐसी वैचित्र्यपूर्ण कल्पनाओं में भी निरी "गप्प बाज़ी" का अनुमान नहीं होता।

जैसा कि सभी ने माना है इन उपन्यासों से भी हिन्दी के प्रचार में बड़ी सहायता मिली, क्योंकि इनकी शैली बड़ी ही रोचक, सरल, एवं चलती हुई सी थी। पाठकों को समझने में ज़रा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। कुछ दिनों तक ऐसे उपन्यासों की बड़ी धूम रही; लेखकों तथा पाठकों ने इनके प्रति बड़ा उत्साह प्रदर्शित किया।

इन निबन्ध, नाटक, एवं उपन्यासों की यह दशा लगभग सन् १९०५ तक रही, इसके उपरान्त साहित्य-संसार में फिर परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, क्योंकि यह समय था लार्ड कर्ज़न के असहानुभूति एवं निरादर पूर्ण कट्टर शासन का। इसी समय 'बंग-विच्छेद' की देश-व्यापी घटना हुई थी। स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार भी इसी समय हुआ था। वर्तमान राजनीतिक जागृति में इन सब का योग भी हो गया और स्वदेश प्रेम की ज्वाला एक बार फिर धधक उठी। इसी समय जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की। अपने महाद्वीप की एक छोटी भी शक्ति का योरुप के एक विशाल राज्य के सम्मुख यह पराक्रम देखकर एशिया-वासियों की उमँगें और अधिक प्रोत्साहित हो उठीं और भारत के भी कोने कोने में सुधार की गूंज गूँजने लगी।

अब तो पढ़े लिखे विद्वानों का भी ध्यान मातृभाषा की ओर

और भी अधिकता से आकर्षित होने लगा। उन लोगों का, जिन्होंने अन्य साहित्यों में अगणित रत्नों के ढेर देख डाले थे, उस समय के मातृभाषा के वर्तमान साहित्य से सन्तोष न हो सका। अतः अब दिनों दिन हिन्दी के विविध अंगों की पूर्ति की जाने लगी, क्योंकि इस संसार में मनुष्य को उसका सात्विक असंतोष ही उसे कार्य में नियुक्त करता है और इसी प्रकार संसार में गुह्यज्ञान का अन्वेषण होता है। इन्हीं हलचलों का यह फल था कि अब लोग विदेशों में भ्रमण करने तथा वहांकला इत्यादिक सीखने को अधिक जाने लगे, तथा अब विविध सभाओं एवं संस्थाओं के द्वारा आत्म-संगठन की युक्ति भी सूझने लगी। बस अब धीरे धीरे अन्य सभाओं के साथ ही साथ हिन्दी की उन्नति के लिये भी नागरी-प्रचारिणी आदि संस्थायें स्थापित की गईं। अनेक नवीन पत्र एवं पत्रिकाएँ जैसे "सरस्वती" इत्यादिक भी निकाली जाने लगीं। अब कुछ बंगला साहित्य के सामाजिक एवं राजनीतिक उपन्यासों का अनुवाद भी हिन्दी में किया जाने लगा। इसके लिये कारण भी यथेष्ट था। एक तो यह कि 'बंग-विच्छेद' की वह राजनीतिक घटना जिसने प्रायः समस्त उत्तरी भारत में हलचल मचा दी थी, बंगदेश में ही हुई थी। इसके अतिरिक्त हमारे प्रान्त की सामाजिक एवं धार्मिक समस्याएँ बंगदेश में भी ज्यों की त्यों उपस्थित थीं, परन्तु शिक्षा की विशेषता के कारण वहांवालों में अपने देश तथा अपनी भाषा के प्रति प्रेम भी यहां की

अपेक्षा अधिक था। इसी कारण वहाँ का साहित्य भी यहाँ की अपेक्षा अधिक बढ़ा था। दोनों प्रान्तों की दशा एकसी होने के कारण यहाँ के निवासियों को बंगला-साहित्य में ही पहले पहल अपने विचारों की छाया देख पड़ी। अतः उसके प्रति इनका अनुराग होना स्वाभाविक ही था। धीरे धीरे यह अनुराग यहाँ तक बढ़ा कि उसे बिल्कुल अपना ही बना लेने में लोगों को सन्तोष मिल सका। इस प्रकार बंगला से हिन्दी की प्रथा चल निकली। पहले तो कुछ उपन्यासों का ही अनुवाद हुआ था परन्तु अब धीरे धीरे नाटक एवं अन्य उपयोगी ग्रन्थों का भी अनुवाद होने लगा। फिर अनुवाद का यह क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हुआ। लोग अब मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी और फारसी वग़ैरा के भी ग्रन्थों का अनुवाद करने लगे। इस प्रकार अनुवादित ग्रन्थों की संख्या अब बहुत अधिक बढ़ने लगी।

वर्तमान काल का यह द्वितीय पार्श्व जिसकी हद हम सन् १९१९ तक मानते हैं, इन्हीं उपरोक्त उद्योगों से परिपूर्ण हुआ है। इस समय तरह तरह के उपन्यास तथा नाटक, बंगला और मराठी से अनुवादित किये जा चुके हैं। शांति-कुटीर, छत्र-साल, मोहिनी, आँख की किरकिरी इत्यादिक इसी युग के फल हैं। पहिले के से ऐय्यारी के उपन्यास अब अदृष्ट से होने लगे। उनका स्थान अब धीरे धीरे दारोग़ा दफ़्तर के जासूसी उपन्यासों ने ले लिया, परन्तु इस प्रकार के अगणित उपन्यासों तथा संस्कृत के नाटकों के होते हुये भी नाटक पढ़ने वालों तथा

खेलने वालों का संतोष न हो सका, इस लिये अब उन लोगों ने द्विजेन्द्र लाल एवं शांतिभूषण सेन जैसे नाटककारों की नई शैली के नाटकों का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। अतः अनुवादित नाटकों की संख्या भी ख़ूब बढ़ी। यहां तक कि जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के कुछ प्रहसनों का भी अनुवाद हिन्दी में कर डाला। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में बिल्कुल ही एक नई वस्तु का योग हुआ।

अब इस समय के साहित्य की गति देखने से एक बात अवश्य प्रतीत होने लगती है कि धीरे धीरे संस्कृत की ओर से लोगों की रुचि हट कर अब बंगला, मराठी आदि की ओर अधिक होती जाती थी, परन्तु उद्देश्य प्रायः यही था कि उन साहित्यों को निचोड़ कर हिन्दी में सन्निहित कर लेना चाहिये।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि लोग अब विदेशों में अधिक भ्रमण करने लगे थे इसलिये पत्रिकाओं में भी अब सामयिक विषयों के साथ साथ विदेश-यात्रा सम्बन्धी लेख भी प्रायः अधिक प्रकाशित होते थे। उपन्यासों इत्यादिक के अतिरिक्त अब लेखों द्वारा भी लोगों ने सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराना प्रारम्भ कर दिया था।

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि समाज और राजनीति ही लोगों का ध्यान आकर्षित किये रहती थी। नहीं, अब तो धीरे धीरे कामताप्रसाद प्रभृति विद्वान भाषा की उपयुक्तता पर भी ध्यान देने लगे थे। इन लोगों ने इस विषय

की सामयिक पत्रिकाओं में अनेक निबन्ध लिखे थे। तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही सब से पहले सम्पत्ति शास्त्र को हिन्दी में प्रस्तुत किया था। इसी समय कन्नोमल तथा जनार्दन भट्ट जी ने दर्शन और इतिहास पर अच्छे अच्छे निबन्ध लिखे थे। इस प्रकार विविध पत्र, पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी गद्य-साहित्य के निबन्ध-अंग की अच्छी पुष्टि हुई।

इस समय के लेखों को देखने से हमें लोगों के विचारों की परिपक्वता एवं लेखन-शैली की प्रौढ़ता का पता चलता है। इस समय के साहित्य पर यदि एक ओर से दृष्टि डाली जाय तो साफ यह जान पड़ता है कि अनुवादित नाटकों एवं उपन्यासों को छोड़कर अन्य विषयक ग्रन्थ एक तो थे ही बहुत कम और फिर नाटक और उपन्यास भी अब कुछ समय के लिये बन्द हो गये। गद्य-साहित्य में अब एक दूसरा ही ढंग चल निकला था, नाटक इत्यादिक न लिख कर लोग अब नाटक इत्यादि पर लिखने लगे थे। ये नाटकों की आलोचनायें नहीं थीं वरन् नाट्यशास्त्र एवं नाट्यकला पर निबन्ध थे। पं० बालकृष्ण भट्ट और पुरोहित गोपी नाथ जी" इसी कोटि के लेखकों में से थे। यद्यपि इनकी लेखनी के द्वारा भाषा का रूप नहीं बदला तथापि विषय में परिवर्तन अवश्य हुआ।

जहाँ अन्य बहुत सी बातें हिन्दी-गद्य-साहित्य का कलेवर बढ़ा रही थीं, वहाँ सन् १९१२ ई० में हम हिन्दी-गद्य में गल्पों की सृष्टि होते भी देखने लगे। यह नवीन प्रथा भी पहले पहल

बंगला साहित्य से ही ली गई। लोग गल्पें लिखने तो लगे परन्तु इस ओर अभी अधिक ध्यान आकर्षित न हो सका, तथा जो कुछ गल्पें लिखी गईं वे कुछ उच्चकोटि की न थीं।

ऊपर एक स्थल पर नागरी-प्रचारिणी-सभा इत्यादिक संस्थाओं की स्थापना का भी वर्णन किया गया है। इन संस्थाओं के द्वारा भी साहित्य की वृद्धि में बड़ी सहायता मिली। जो एक सबसे बड़ा कार्य इनके द्वारा सम्पादित हो सका, यह था साहित्यिक, ऐतिहासिक, एवं पुरातत्व विषयक खोज का। इस विभाग का कार्य किसी भी साहित्य की दृढ़ समुन्नति के लिये कितने महत्व का है यह विद्वानों से छिपा नहीं। रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीरा चन्द ओझा प्रभृति विद्वानों का इस ओर कार्य बड़ा ही सराहनीय है।

वर्तमान काल के इसी पार्श्व में सन् १९१४ ई० में यूरप का महा युद्ध प्रारम्भ हो गया। अन्य दृष्टि से यह घटना बड़े महत्व की चाहे भले हो, परन्तु हिन्दी-गद्य-साहित्य पर इसका कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि कुछ दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्र अधिक निकलने लगे।

इस समय की समस्त शैलियों पर हम यदि एक ओर से दृष्टि डालें तो बड़ी सरलता से हमें यह ज्ञात हो जायगा कि लेखकों की शैली विषयक रुचि अभी बिलकुल निश्चित नहीं हो पाई थी। स्थल स्थल पर लोग विविध शैलियों का प्रयोग कर रहे थे, परन्तु कौन सी शैली ग्राह्य थी इसका निश्चय नहीं हो पाया था। यद्यपि निश्चित शैली के बिना भी साहित्य की वृद्धि में कोई रुकावट

नहीं पड़ने पाती थी तथापि कभी कभी इस बात का आभास अवश्य मिल जाता है कि यह अनिश्चित दशा कुछ अंश तक लेखकों का ध्यान अवश्य ही आकर्षित किये रहती थी। अतः १६ वर्ष के इस भाग को यदि हम विविध शैलियों की प्रयोगशाला कहें तौभी कदाचित् अनुचित न होगा।

सन् १९१९ में यूरूपीय महायुद्ध समाप्त हो गया और ऐसी आशा थी कि कुछ समय के लिये शान्ति अवश्य रहेगी, परन्तु कुछ ही समय में भारतवर्ष के लिये आन्तरिक अशान्ति का युग प्रारम्भ हो गया। पञ्जाब का हत्याकाण्ड और उसके पीछे ही असहयोग-आन्दोलन ये दोनों घटनायें आधुनिक समय में भारतीय जीवन के प्रत्येक पार्श्व के लिये बड़ी ही महत्व की हैं। क्या साहित्य और क्या समाज तथा क्या राजनीति सभी पर इनका बड़ा ही प्रबल प्रभाव पड़ा। सन् १९२२ तक तीन वर्ष का समय भारतीय इतिहास में अपूर्व है। पहले की घटनाओं ने देश भर में हलचल मचा दी। पहले की घटनाओं का प्रभाव तो मुख्यतः उत्तरीय भारत तक ही परिमित था, परन्तु इनका प्रभाव तो समस्त देश व्यापी था। इनके कारण एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक देश में आग सी लग गई। मनुष्यों की मानसिक शक्ति की उन्नति जितनी इन तीन वर्षों में हो सकी उतनी तो ३० वर्षों में भी होना कठिन था। यद्यपि इस समय समाचार-पत्रों को छोड़ कर साहित्य के अन्य किसी भी अंग की वृद्धि न हो सकी तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इसके पश्चात ही आने वाले समुज्वल युग

के लिये जनता पूर्ण रूप से तैयार हो गई थी। वास्तव में यह तीन वर्ष का समय था दीक्षा और कर्तव्य-पालन का। इसमें शिक्षा के लिये अवकाश बहुत कम था, परन्तु कर्तव्य-पालन के साथ ही साथ आन्दोलन के प्रचार के द्वारा देशवासियों को आत्म-शिक्षा बहुत अच्छी मिल गई। इस आन्दोलन ने देश के निवासियों को कार्यपरायणता के साथ ही साथ यह भी भली भांति सिखा दिया था कि देश की एवं अपनी उन्नति और उद्धार के लिये कौन कौन सी बातें आवश्यक हैं। इस शिक्षा का फल यह हुआ कि सन् १९२२ में ज्यों ही, कुछ शान्ति स्थापित हुई त्यों ही लोगों की वह मानसिक शिक्षा साहित्य के रूप में परिणत होने के लिये बड़े वेग से परिप्लावित हुई और जिस प्रकार एक नदी समुद्र में शतधा हो कर गिरती है ठीक उसी प्रकार विचारवान मनुष्यों की वह मानसिक शिक्षा अब इस समय 'साहित्य-समुद्र' की ओर शतधा हो कर उमड़ने लगी। देखते ही देखते न जाने कितने नवीन एवं उपयोगी विषयों पर नये नये उत्तमोत्तम ग्रन्थ नये ढंग के बनने लगे। यदि राय बहादुर गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा, शंकर राव जोशी, कन्नोमल, इत्यादिक विद्वान ऐतिहासिक खोज की ओर लगे हैं तो संतराम, दयाशंकर दुबे एवं विद्यालंकार प्रभृति विद्वान सम्पत्ति-शास्त्र और समाज शास्त्र की वृद्धि में अपना योग अनवरत रूप से दे रहे हैं।

भाई परमानन्द, लक्ष्मीधर वाजपेई, स्वामी सत्यदेव, लज्जा-शंकर मेहता, हर्षदेव ओली, कौचक, गिरजाशंकर वाजपेई, गणेश

शंकर विद्यार्थी, सम्पूर्णानन्द, और रामदास गौड़ इत्यादि विद्वानों ने विज्ञान, कृषि, धर्म, राजनीति इत्यादि अनेक उपयोगी अंगों के पुष्ट करने का प्रयत्न किया है तथा निरन्तर करते जा रहे हैं, परन्तु फिर भी सारी सामग्री को देख कर यही कहना पड़ता है कि अभी तो इन सबका प्रारम्भिक काल है। यद्यपि ये सभी प्रयत्न सराहनीय हैं तथापि इनसे संतोष नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ी इत्यादिक अन्य साहित्यों में, जिनसे हिन्दी को शीघ्रही टक्कर लेनी होगी, उनमें यह सब सामग्री इतनी अधिक भरी पड़ी है कि उसके सामने हिन्दी का यह सब सामान कुछ जंचता ही नहीं। परन्तु फिर भी निराश होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि चारों ओर दृष्टि फेरते ही ज्ञात हो जाता है कि अब साहित्य के प्रायः सभी अंगों का शुभपात हो चुका है तथा विद्वानों को अपने अपने विषयों की पूर्ति करने की धुन सी लगी है; फिर भला साहित्य के बढ़ने एवं परिपुष्ट होने में शंका ही क्या हो सकती है? और अभी दिन ही कितने हुये हैं? यदि तीन चार ही वर्षों में इतनी वृद्धि हो सकती है तो कुछ थोड़े ही और समय में संतोष-जनक वृद्धि का हो जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं।

अब यदि इस पार्श्व के शुद्ध साहित्यिक अंग की ओर हम झुकते हैं तो हमें अन्य अंगों की अपेक्षा यह अंग बहुत अधिक परिपुष्ट मिलता है। इसकी, समालोचना एवं गद्यकाव्य इत्या-दिक की कुछ नवीन शाखाओं को छोड़कर अन्य शाखाओं का

जैसे नाटक, उपन्यास, गल्प, जीवनचरित्र, निबन्ध, भाषा एवं साहित्य का इतिहास इत्यादि, का सूत्र-पात पहले ही से हो चुका था और वर्तमान युग के प्रारम्भ से ही इन विषयों के ग्रंथ रचे जाते थे, परन्तु अब तो साहित्य की इन शाखाओं में भी बड़ा अन्तर पड़ गया था।

पहले के उपन्यास प्रायः अनुवाद ही हुआ करते थे, परन्तु अब हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की कमी लोगों को बहुत खटकने लगी। अतः प्रेमचन्द और हृदयेश प्रभृति उपन्यासकारों ने 'सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, मंगलप्रभात' इत्यादिक रच कर मौलिक उपन्यास लिखने की प्रथा स्थापित की। इनमें से कुछ तो प्रथम प्रयास होते हुये भी बड़ी उच्चकोटि के उपन्यास हैं। यद्यपि अनुवाद आज दिन भी किये जाते हैं और शायद सदैव ही किये जांयगे, क्योंकि बिना अनुवाद के केवल मौलिकता के भरोसे किसी भी साहित्य की यथेष्ट वृद्धि नहीं हो सकती, तथापि आजकल मौलिकता की चाह अधिक है, और लेखक गण इस ओर अच्छा प्रयत्न भी कर रहे हैं।

न केवल उपन्यासों में ही वरन् नाटक और गल्पों में भी हम रुचि का प्रवाह मौलिकता की ओर ही पाते हैं, और नाटकों में तो केवल कथानक ही नहीं वरन् सारी शैली में ही मौलिकता की अपेक्षा की जाती है। पुरानी शैली के नाटक चाहे वे अनुवादित न होकर मौलिक ही क्यों न हो, तो भी आज कल अच्छे नहीं समझे जाते। कदाचित् मौलिकता के ही कारण

"अञ्जना" का आदर आजकल 'शाहजहाँ' अथवा 'उसपार' से अधिक है। उपन्यासों की अपेक्षा साहित्य की इस शाखा में परिवर्तन की आशा बहुत की जाती है, क्योंकि आज कल विद्वानों के सम्मुख भारतीय नाट्यशास्त्र का क्या उद्देश्य होना चाहिये यही प्रश्न उपस्थित है। आज कल के नाटककार नवीन आदर्शों का प्रयोग भी नये नाटक लिख लिख कर रहे हैं, 'वरमाला' और 'दुर्गावती' इसी प्रयोगशाला के फल हैं। परन्तु भारतीय नाटक का आदर्श अभी निश्चित नहीं हो सका है। अभी तक की कसौटी जो कुछ भी कही जा सकती है वह केवल यही है कि नाटक 'अभिनय योग्य' होना चाहिये, क्योंकि नाटक दृश्य-काव्य है, अतः उसकी 'अभिनय-योग्यता अनिवार्य है।

नाटक अथवा उपन्यासों की अपेक्षा हम देखते हैं कि हिन्दी में गल्पों की शाखा सबसे अधिक पुष्ट है। इस ओर सब से पहली बात तो यह है कि हिन्दी की गल्पें अधिकतर मौलिक हैं, तथा उनमें प्रौढ़ता और पटुता भी अधिक है। आज कल के गल्प-लेखकों में प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन और हृदयेश यही प्रमुख हैं। इन्हीं लोगों ने अन्यत्र उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। इनके नाटक और उपन्यासों की तुलना यदि इनकी गल्पों से की जाय तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि गल्प लिखने में इन्हें अधिक सफलता मिली है। चरित्र-चित्रण, भाषा, और कथानक सभी कुछ इनकी गल्पों में उपयुक्त हैं। बात तो यह है कि उपन्यास अथवा नाटक की अपेक्षा गल्प लिखने में

'रचना-चातुर्य' की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। लेखकों की उपन्यास और नाटक विषयक त्रुटियों को देखकर कुछ ऐसा अनुमान होता है कि कदाचित् हमारे लेखकों में 'रचना-चातुर्य' अभी इतना प्रौढ़ नहीं हो सका है कि वे उपन्यास अथवा नाटकों में भी उतनी कुशलता दिखा सकें जितनी वे गल्पों में दिखा सके हैं। हमारे साहित्य में इस कला का उद्घाटन हुये भी तो अभी अधिक समय नहीं हुआ है। यदि इसी प्रकार प्रयत्न होता रहा तो आशा है कि सारी न्यूनता शीघ्र ही दूर हो जायगी।

इनके अतिरिक्त हिन्दी में अब कुछ नवीन शाखाएँ भी पल्लवित होने लगी हैं। जैसे गद्य-काव्य, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन इत्यादि। पहले की अपेक्षा अब समय में बड़ा परिवर्तन हो गया है उसी के अनुसार हिन्दी-साहित्य भिन्न कोटि का बन रहा है। उसके Standered में भी बड़ा अन्तर पड़ गया है। पहले एक तो हिन्दी पढ़ने वाले थे ही बहुत कम और जो लोग पढ़ते भी थे वे केवल स्वान्तः सुखाय ही, परन्तु अब धीरे धीरे लोग हिन्दी साहित्य का अध्ययन अधिक ध्यान पूर्वक करने लगे और यह क्रम इतना अधिक बढ़ा कि विश्वविद्यालयों में यह एक पाठ्य विषय हो गया। अध्ययन का यह नया ढंग हिन्दी की सुदृढ़ पौष्टिकता की दृष्टि में बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि अब तक लोग तुलनात्मक अथवा आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं पढ़ा करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि साहित्यिक

परख होने ही नहीं पाती थी, परन्तु अब इस प्रकार के क्रमबद्ध अध्ययन ने साहित्य के लिये 'कला' की एक नई कसौटी तैयार कर दी। अब पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र इत्यादिक विद्वान साहित्य को इसी कसौटी पर कस के देखने लगे और साथ ही साथ वियोगी हरि, राय कृष्णदास तथा चतुरसेन शास्त्री इत्यादिक विद्वानों ने, तरंगिणी, साधना और अन्तस्तल' आदि रच कर गद्य-काव्यों के मिस 'गद्यकला' का निर्माण किया। कला की यह सत्ता इन्हीं कतिपय ग्रन्थों में ही समाप्त नहीं हो जाती वरन् नाटक, उपन्यास, गल्प और निबन्धों तक में वह ढूँढ़ी जाती है। यद्यपि यह सर्वत्र सम्भव नहीं तथापि इसका आदर आज कल ख़ूब बढ़ रहा है। क्योंकि लेखन शैली तक में आज इसकी उपासना की जाती है।

इस समय की प्रचलित शैलियों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वह भी अब पहले की भाँति अनिश्चित दशा में नहीं है। वरन् अब यह बात सर्व-स्वीकृत भी हो गई है कि विषय के अनुसार ही शैली भी बदलनी चाहिये। इसी सिद्धान्त को ले कर हम देखते हैं कि साधारण तथा विषय की कठिनाई के अनुरूप ही गद्य ने भी अधिक गम्भीर रूप धारण किया है। उसमें बहुधा केवल हिन्दी के ही शुद्ध शब्दों का प्रयोग होता है। अन्य भाषा के केवल वही शब्द प्रयुक्त होते हैं जो अत्यन्त प्रचलित हैं। कुछ नये मुहावरे जैसे 'दृष्टिकोण' अथवा 'आनाकानी' इत्यादिक भी गढ़ लिये गये हैं। इन नव पिरचित

मुहावरों के अतिरिक्त 'स्वत्व' और 'वातावरण' जैसे कुछ नवीन शब्दों को सम्मिलित करके भी भाषा की वृद्धि की गई है। इस गम्भीर साहित्यिक शैली के मुख्य लेखक हैं पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, बा० श्याम सुन्दर दास और पं० रामचन्द्र जी शुक्ल इत्यादि।

इसके अतिरिक्त एक मिश्रित शैली का भी प्रचार देख पड़ता है। इसके लेखक हैं मिश्र-बन्धु, लाला भगवान दीन, और पं० रामनरेश त्रिपाठी। ये लोग कुछ अंशों तक राजा शिवप्रसाद की शैली का अनुसरण करते हैं। इनकी धारणा भी यही है कि हिन्दी में किसी भी अन्य भाषा के शब्दों का समावेश कुछ अनुचित नहीं। उक्त राजा साहब तथा इनमें भेद केवल इतना ही है कि वे अन्य भाषा के शब्दों को 'तत्सम' रूप में प्रयुक्त करते थे, परन्तु आज कल इन विद्वानों का मत यह है कि अन्यभाषा के प्रचलित शब्दों को 'तद्भव' रूप में ग्रहण करना चाहिये। जैसे यदि 'ज़रा' शब्द का प्रयोग हमें हिन्दी में करना हो तो 'जरा' लिखना चाहिये ; ज़रा नहीं।

तीसरी प्रचलित शैली है, 'ललित साहित्य' अर्थात् 'Light Literature की। यह रूप उसे उपन्यास एवं गल्प-लेखकों के द्वारा मिला है। यह गद्य गम्भीर नहीं होता और वास्तव में होना भी नहीं चाहिये। गम्भीर गद्य और इसमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि यह प्रायः साधारण बोल चाल की भाषा में लिखा जाता है। इसके शब्द और मुहावरे सभी प्रायः साधारण बोल चाल के होते हैं और इसमें गुरुता नाम को भी नहीं होती।

इससे भी भिन्न एक प्रकार का गद्य आजकल के प्रहसनों में पाया जाता है। वह सरल होते हुये भी तीखा और कठोर होता है। उसका तो उद्देश ही यही होता कि वह जिसके प्रति प्रयुक्त किया जाय उसे तो मर्माहत करे परन्तु दर्शकों अथवा पाठकों के अधरों पर मुसकान अवश्य आ जाय। इस प्रकार के गद्य में किसी विशेष भाषा का ध्यान नहीं रक्खा जाता, वरन् प्रायः सभी भाषाओं का एक विचित्र सम्मिश्रण होता है। इस शैली में ग्रामीण अथवा नागरिक, मुहावरे अथवा ग़ैरमुहावरे का विचार नहीं रक्खा जाता। बस उद्देश्य की पूर्ति ही यहां अभीष्ट रहती है। अस्तु।

इस नवयुग की सारी बातों को देखने से यही जान पड़ता है कि शब्दों में अथवा व्याकरण में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। फिर भी पहले और अब में हम बड़ा अन्तर देखते हैं, यद्यपि प्रवृत्ति 'सरलता' और 'स्वाभाविकता' की ओर है, तथापि शब्दों और मुहावरों की उपयुक्तता के द्वारा भाषा में ओज, विषयों की प्रौढ़ता एवं विचारों की पुष्टता का ध्यान पूरा रक्खा जाता है। क्या भाषा और क्या साहित्य, गद्य के सभी अंग आज कल भली भांति पुष्ट हो रहे हैं, और नवीन उत्साह और उमंगों से भरे हुये लेखकों की संख्या भी प्रति दिन बढ़ती जाती है। किसी भी साहित्य के समुज्वल भविष्य के लिये ऐसे चिन्ह शुभ एवं आशोद्दीपक अवश्य कहे जा सकते हैं।

वर्तमान हिन्दी कविता का विकाश

[लेखक—विक्रमादित्य सिंह एम० ए०]

अतीत और वर्तमान के बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। अतीत की रेखाएं वर्तमान में और वर्तमान की अतीत में ज्ञात और अज्ञात रूप से बड़ी दूर तक मिली चली आती और चली जाती हैं। तो भी हम हरिश्चन्द्र के काल को वर्तमान हिन्दी साहित्य का सब तौर पर वर्तमान हिन्दी कविता का आरम्भिक काल ही समझते हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५० ई० में हुआ था और उनका कविता-काल सन् १८६८ ई० के लगभग समझना चाहिए, क्योंकि उसी सन् में उन्होंने कवि-वचन-सुधा नामी अख़बार निकालना आरम्भ किया था, जिसमें स्वयं उनकी, उनके मित्रों, और अन्य प्राचीन हिन्दी-कवियों की कविताएं प्रकाशित होनी शुरू हुई थीं। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी-कविता की आयु अभी केवल ६० वर्ष की है। इस काल के अधिकांश कवि अभी जीवित हैं। उनकी कृतियों को अभी वह समय नहीं मिला जो उनके वास्तविक गुण-दोष के निरूपण के लिए आवश्यक है, और शायद निस्सङ्कोच समालोचना की आँच में उनकी परख होनी अभी सम्भव भी नहीं है। ऐसी दशा में उन पर रायज़नी करनी कुछ धृष्टता तो अवश्य है, लेकिन इन आरम्भिक कठिनाइयों का

सामना करना भी कुछ लोगें के लिए अनिवार्य है इसलिए मैंने अपनी अपरिपक्क राय के प्रकट करने का उचित साहस किया है। कोई परवा नहीं कि कल ही इनका स्थान कोई और गम्भीर और विचार पूर्ण सम्मतियाँ ले लें।

सब से पहले मुझे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक मालूम होता है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में वह कौन सी विशेषताएँ हैं जो उन्हें हिन्दी की प्राचीन कविता से पृथक् करती हैं। उनका विशद वर्णन तो मैं आगे चल कर करूँगा यहाँ पर मोटे तौर से इतना बतला देना चाहता हूँ कि समय की प्रगति के अनुरोध से उस समय के सामूहिक जीवन के अन्य विभागों की भाँति साहित्य में भी नवजीवन की स्फूर्ति का उद्गार ही वर्तमान हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक होने का सेहरा भारतेन्दु बाबू के सिर पर बँधवाता है।

मैं यहाँ पर उस प्रायः सर्व सम्मत सिद्धान्त में अपनी शङ्का प्रकट करना चाहता हूँ जो नवीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक जाग्रति के पाश्चात्य शिक्षा का परिणाम बतलाता है। यह विषय है तो इतिहास का पर चूँकि हमारे वर्तमान साहित्य की समस्त सत्ता हमारी इसी जाग्रति पर निर्भर है इसलिए इस पर विचार करना मुझे असङ्गत नहीं मालूम पड़ता।

यह हमारे लिये बड़े दुःख की बात है कि हमारे देश के राजनैतिक इतिहासों में धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक दशाओं

का कोई भी सुसम्बद्ध और यथेष्ट वर्णन नहीं पाया जाता, इसलिए हम अपनी वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक जाग्रति का समस्त श्रेय पाश्चात्य शिक्षा को देने के लिए विवश से हो जाते हैं, किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि किसी भी प्राचीन जाति के वर्तमान की जड़ें उसके अतीत में बड़ी दूर तक समाई रहती है, उन्हें नशो-नुमा कहीं से भी मिलता रहे, पर अतीत में स्थित जड़ों से उनका विच्छेद केवल मृत्यु से ही सम्भव है। हमें अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति का ध्यान सदा से रहता आया है। पाश्चात्य शिक्षा के बहुत पहले हम अपनी सामाजिक-अधोगति का ज्ञान प्राप्त कर चुके थे और सामाजिक-सुधार, धार्मिक-पुनरुत्थान और राजनीतिक जाग्रति के लिए निरन्तर प्रयत्नवान थे। स्वामी दयानंद सरस्वती, केशव-चन्द्र सेन और राजा राममोहनराय को उसी लड़ी के अन्तिम मोती समझना चाहिए जिसमें उत्तरीय भारत के रामानन्द, चैतन्य-स्वामी, कबीर, बल्लभाचार्य, विट्ठलस्वामी, सूरदास और तुलसी-दास तथा दक्षिणीय भारत के रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्क तुकाराम, नामदेव और रामदास पिरोए जा चुके थे। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी की राजनीतिक जाग्रति का कारण पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेज़ी शिक्षा में ढूँढ़ना भारतीय इतिहास में अज्ञानता प्रकट करना है। इस जाग्रति का मौलिक श्रेय हमारी उस भूसे में आग की तरह सुलगती हुई राजनीतिक चेतनता को देना चाहिए, जो समय समय पर तरायन, कनवाहा, हल्दीघाटी और पानीपत की भीषण

लड़ाइयों में भभक भभक कर रह गई थी। हम अपनी चेतनता को सामूहिक रूप भले ही न दे पाए हों लेकिन यह वही दबी हुई शक्ति थी जिसने मेवाड़ के राणा में स्वातंत्र्याकांक्षा की रूह फूँक दी थी। उसी शक्ति ने बाबा रामदास की शिक्षाओं में प्रस्फुटित होकर मरहठा-साम्राज्य कायम किया था, और निस्सन्देह वही शक्ति हमारी वर्तमान राजनीतिक जाग्रति की जन्मदात्री है जिसके रुख़ फेरने का श्रेय कांग्रेस के दूरदर्शी संस्थापकों को दिया जा सकता है। इस रुख़ फेरने के परिणाम पर ग़ौर करना यहाँ पर हमारा काम नहीं है। हम तो केवल उस जाग्रति के अविरल सूत्र का वास्तविक पता लगाना चाहते हैं जिसका उद्गार ही वर्तमान हिन्दी साहित्य की प्रधान विशेषता है। हमारी आज़ादी के दुश्मन मुग़ल-साम्राज्य के मिटाने के लिए ही मरहठा-साम्राज्य की संस्थापना हुई थी। मरहठा-साम्राज्य एक विशाल हिन्दू-साम्राज्य का केवल एक वह आरम्भिक स्वरूप था जिसका सुस्पष्ट स्वरूप महाराज शिवाजी और राजा जसवन्तसिंह निर्धारित कर चुके थे। सन् १८५७ ई० में मुग़ल-साम्राज्य के सर्वथा लोप हो जाने पर और उसके स्थान पर अंग्रेज़ी साम्राज्य के कायम हो जाने पर यह नितान्त स्वाभाविक था कि हमारे हिन्दू-साम्राज्य का स्वप्न हिन्दूस्तानी साम्राज्य में परिणत हो जाता और टर्की तथा चीन में काम करने वाली समय-प्रवाह की व्यापक शक्तियाँ उस हिन्दुस्तानी-साम्राज्य को ख़ाहमख़्वाह हिन्दुस्तानी प्रजातंत्र का रूप दे देतीं। इस सम्बन्ध में एक बात बड़े मार्के की है कि

हिन्दी साहित्य की आरम्भिक राष्ट्रीय कविताओं में मुसलमानों के विरोध, धर्मरक्षा, गौरक्षा और मूर्तिरक्षा की पुकार उसी रूप में मौजूद है जिस रूप में वह मुसलमानी सल्तनत के आरम्भ से चली आई थी। उदाहरण के लिए भारतेन्दु बाबू की इन पङ्क्तियों पर ग़ौर कीजिए:—

छप्पय

"जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दर।
तहँ महजिद बन गईं होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूँसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिशि लखियत खंडहर॥
सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥ १॥
अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहिं पराई।
निज चाल छोड़ि गहि हैं औरन की धाई॥
तुरकन हित करि हैं हिन्दू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहि हैं सीस चढ़ाई॥
तजि निज कुल करि हैं नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥ २॥
आर्य वंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म में।
गो भक्षन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म में॥
तिनको तुरतहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किएहुँ पुन्य सदा हीं॥

धिक् तिन कहँ जे आर्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक् तिन कहँ जे इनसों कछु सम्बन्ध निबाहैं॥
काहे तू चौका लगाए जयचँदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाए, कहे चोटी कटवाय बुलाए जयचँदवा॥

यों ही श्रीयुत पं० प्रताप नारायण जी मिश्र भी कहते हैं:—

जहाँ रामैयाँ है ऊदल कै, भुवरा मुगुल पछारै गाय॥

भारतेन्दु बाबू के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप नाटक' हिन्दुओं की भावनाओं का ज्वलन्त उद्गार है। आज भी हमारे संगठनात्मक साहित्य में इस प्रकार के उद्गार भरे पड़े हैं जो हमारी आधुनिक राष्ट्रीयता के महान घातक हैं और जिनका अस्तित्व केवल इसलिए चला जा रहा है कि हमारी राष्ट्रीय जाग्रति का मूल गत कई शताब्दी पीछे तक चला गया है। भारतेन्दु बाबू के समय में हमारी राष्ट्रीय भावनाएँ बिल्कुल अस्पष्ट और सर्वथा प्राचीन संस्कारों पर निर्धारित थीं। आगे चल कर वे सुस्पष्ट हो गई हैं और बाबू मैथिली शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल, त्रिशूल और कविरत्न जी के हाथों में उन्होंने वह आधुनिक रूप पकड़ा है जिसमें मुसलमानों के प्रति विरोध का भाव नष्टप्राय हो गया है।

मैं आरम्भ में ही यह कह आया हूँ कि भारतेन्दु बाबू की रचनाओं में नव जीवन की स्फूर्ति ही उन्हें प्राचीन कही जाने वाली रचनाओं से अलग करती है। मैंने यह भी दिखला दिया कि नव जीवन के प्रादुर्भाव का अनुसंधान पाश्चात्य शिक्षा में न

करना चाहिए। अब मैं शास्त्रीय दृष्टि से यह विचार करूँगा कि भारतेन्दु बाबू की कविता में नव जीवन की स्फूर्ति ने कौन सा बाह्य रूप ग्रहण किया है, उस रूप में कहाँ तक नवीनता है और कहाँ तक प्राचीनता की झलक है।

स्थूल रूप से काव्य-कला को तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं। भाव, भाषा और शैली। भाव के अन्तर्गत मैं प्रतिपादित विषय, विचार, भावनाओं (मनोवेगों) और कल्पनाओं को अर्थात् काव्य का समस्त आन्तरिक रूप शामिल करता हूँ। भाषा के अन्तर्गत ब्रजभाषा, खड़ी बोली और अवधी पर और आगे चल कर खड़ी बोली के अन्तर्गत शुद्ध हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी अर्थात् हिन्दुस्तानी पर विचार होगा। इसी प्रकार शैली के अन्तर्गत छन्द और अलङ्कारों पर प्रकाश डाला जायगा।

भाव के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतेन्दु बाबू ने राष्ट्रीय विषयों पर कविता करनी आरम्भ की। अब तक इस प्रकार की समस्त भावनाएँ धर्म के व्यापक विस्तार के अन्तर्गत आ जाती थीं। अब वे ही देश-हित के नए नाम से पुकारी जाने लगीं और बढ़ते हुए राजनीतिक आन्दोलनों के साथ उनकी व्यापकता भी बढ़ने लगी। यह राष्ट्रीय पुकार कहीं तो अपनी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक अधोगति पर करुणागान करने लगी, कहीं इस गिरी हुई दशा से उठने का उत्साह दिलाने लगी, कहीं देश के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करके देश के साकार रूप की उपासना का भाव जगाने लगी और कहीं प्राचीन वीर-गाथाओं के गान द्वारा अपने प्राचीन

शौर्य की याद दिला कर मुरझाये हुए दिलों में साहस की स्फूर्ति भरने लगी।

—करुणा गान

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

—प्राचीन वैभव स्मृति

कहँ गए विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर।

—सामाजिक दुर्दशा

करि कुलीन के बहुत व्याह बल वीरज मार्‌यो।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो॥

—चेतावनी

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि वैस गँवाई। जागो जागो रे भाई॥
अबहू चेति पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई॥

भारतेन्दु बाबू की राष्ट्रीय कविताओं में नवीनता के अतिरिक्त कोई विशेष चमत्कार नहीं पाया जाता और जहाँ तक मेरा ख़्याल है माखनलाल चतुर्वेदी और त्रिशूल जी के अतिरिक्त अन्य कवियों को काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इस क्षेत्र में विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। शायद हमारे हिन्दी कवियों ने राष्ट्रीय मनोवेग का मर्मान्तिक अनुभव अभी तक नहीं कर पाया। हमारे अच्छे अच्छे कवियों

का झुकाव भी इधर नहीं है। अगर्चे अन्य क्षेत्र में जो उनकी रचनाएँ हो रही हैं वे भी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं और उन पर एक प्रकार की राष्ट्रीय छाप लगी भी है। मैं समझता हूँ कि मौलाना हाली, लालचन्द 'फलक' और चन्द और उर्दू कवियों को शुद्ध राष्ट्रीय कविताओं के लिखने में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा में पुराने ढङ्ग की जो कविता की है उसमें शृङ्गार और करुणा रस का बड़ा अच्छा परिपाक हुआ है। यमुना के वर्णन में भारतेन्दु बाबू ने प्रकृति-पर्यवेक्षण का भी अच्छा परिचय दिया है।

करुणः—

इन अँखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो,
योंही सदा व्याकुल विकल अकुलाइहैं॥
प्यारे 'हरिचन्द' जू की बीती जानि औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समाइहैं॥
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि यातें,
जौन जौन लोक जै हैं तहीं पछिताइहैं॥
बिना प्रान प्यारे भए दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जाइहैं॥

शृङ्गारः—

तू केहि चितवति चकित मृगीसी।
केहि ढूँढति तेरो कहा खोयो,
क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी॥

तन सुधि करु उघरत री आँचर,
कौन ख़्याल तू रहति खगीसी।
उतर न देत जकीसी बैठी,
मद पीय कै रैन जगी सी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि,
सपने पिय देखति उमगी सी।
भूल बावरी मृगछौनी ज्यौं निज,
दल तजि कहुँ दूर भगी सी॥
करति न लाज हाट घर बर की,
कुल मरजादा जाति डगी सी।
हरीचन्द ऐसहि उरझी तौ,
क्यों नहिं डोलत संग लगी सी॥

भारतेन्दु बाबू ने कविता की भाषा में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं किया। अधिकांश इन्होंने ब्रजभाषा में ही लिखा। 'चूरन' वाली कविता में और नाटकी विषयों में यत्र तत्र इन्होंने खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है, पर इनके गद्य की खड़ी बोली मँजी हुई नहीं है।

मेरा चूरन जो कोइ खाय; मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
चूरन ऐसा हट्टा कट्टा; कीना दाँत सभी का खट्टा॥

उपर्युक्त पद्यों में 'नहिं' और 'कीना' शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली में शिष्ट नहीं समझा जाता। हमें याद रखना चाहिए कि

खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी कविता में 'खुसरो, कबीर, मलूक-दास और सीतल भी प्रथम कर चुके थे।

खुसरो (१२५५—१३२५ ई०)

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया॥

कबीर (१३९८—१५१८ ई०)

हमन हैं इश्क़ मस्ताना हमन को होशियारी क्या?
रहें आज़ाद या जग में हमन दुनिया से यारी क्या?

मलूक (१५७४—१६८२ ई०)

भील कब करी थी भलाई जिय आप जान, फील कब हुआ था
मुरीद कहु किसका?
गीध कब ज्ञान की किताब का किनारा छुआ, ब्याध और बधिक
निवाज़ कहु तिसका॥

सीतल (१७२६ ई०)

शिव, विष्णु ईश बहुरूप तुम्हीं नभ तारा चाँद सुधाकर है।
अम्बा, धारामल, शक्ति, स्वधा, स्वाहा, जल पौन दिवाकर है॥
मुख सरदचन्द पर ठहर गया जानी के बूँद पसीने का।
या कुन्दन कमल कली ऊपर झमकाहट रक्खी मीने का॥
हीरे की कनियाँ मन्द लगी हैं सुधा किरन के गोती से।
आया है मदन आरती को, धर कनक थार में मोती से॥

शैली प्रधान चीज़ है। इसमें भारतेन्दु बाबू ने नवीनता का प्रदर्शन किया है। उनके पहले के कवियों में कृत्रिमता की हद हो गई थी। कवित्त, घनाक्षरी, और सवैया में ही प्रायः कविता की

जाती थी, कभी कभी दोहा और कुण्डलिया छन्द का व्यवहार हो जाया करता था। हरिश्चन्द्र जी ने विविध प्रकार के छन्दों और राग रागिनियों का प्रयोग किया। अनेक पद इन्होंने उर्दू की बहरों में लिखे। सबसे बड़ी बात जो शैली में उन्होंने नई चलाई वह व्यापक विषयों के प्रतिपादन को काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य बनाना था। अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति अलङ्कारों की छटा दिखलाने के लिए काव्य करना इन्होंने छोड़ दिया। यद्यपि अलङ्कारों की स्वाभाविक छटा इनकी कविता में अनायास आ जाया करती थी। इनके यमुना वर्णन में उत्प्रेक्षा की बहार देखने लायक है। मैं केवल एक पद नीचे देता हूँ:—

परत चन्द्र प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रास रमन में हरि मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति वा प्रतिबिम्ब लखात है॥

वायु वेग से चलायमान यमुना की लहरों में डोलते हुए चन्द्रमा पर भारतेन्दु की उत्प्रेक्षायें सुनिए।

मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ ब्रजरमनी जल आवती॥

चन्द्रमा के इस स्वाभाविक वर्णन को पद्माकर के एक कवित्त से मिलाइए, जो चन्द्रमा ही की छटा पर कहा गया है :—

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै
वृन्दावन बीथिन बहार बंसी बट पै।
कहै 'पद्माकर' अखण्ड रास मण्डल पै
मण्डित उमंड़ि महाकालिन्दी के तट पै॥
छिति पर छान पर छाजत छतान पर
ललित लतान पर लाड़िली के लट पै।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि
पाई छवि आजुही कन्हाई के मुकुट पै॥

यदि ध्यान पूर्वक देखिये तो अनुप्रासों की बहार के अतिरिक्त शायद ही कुछ चमत्कार की बात नज़र आए। उस ज़माने की कृत्रिमता का एक नमूना और देकर मैं आगे बढ़ूँगा :—

शोभित सुमनवारी सुमना सुमनवारी
कौन हूँ सुमनवारी को नहीं निहारो है।
कहै 'पद्माकर' त्यों बांधनू बसनवारी
वा व्रज बसनवारी ह्यो हरन हारी है॥
सुवरनवारी रूप सुवरनवारी सजे
सुवरनवारी काम कर की सँवारी है।
सीकरनवारी स्वेद सीकरनवारी रति
सीकरनवारी सो बसीकरनवारी है॥

भारतेन्दु बाबू के समकालीन पंडित बदरी नारायण चौधरी, श्रीयुत विनायक राव, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, पंडित अम्बिका दत्त व्यास, लाला सीता राम बी० ए०, पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा और बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने भी कविताएँ कीं, पर इनमें पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा को छोड़ कर अन्य लोगों ने कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं पैदा की। पंडित प्रताप नारायण मिश्र ने हास्य रस में कुछ बड़ी अच्छी रचनाएँ कीं, जिनमें 'बुढ़ापा' पर बैसवाड़ी भाषा में उनकी कविता बड़ी मनोरञ्जक है।

> अरे बुढ़ापा तोरे मारे अब तौ हम नक न्याय गयन।
> करत धरत कुछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कइस करन॥

पंडित नाथूरामशङ्कर शर्मा को छोड़ कर अन्य लोगों ने प्रायः व्रजभाषा में ही कविता की, एकाध खड़ी बोली में जो लिखीं भी वह विशेष उल्लेख के योग्य नहीं हैं।

पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अत्यन्त मौलिक कविता की, पर इनकी खड़ी बोली साफ नहीं हुआ करती, उसमें व्रजभाषा की पुट लगी ही रहती है।

भूतकालिकक्रियाएँ (Past Participle) इनकी प्रायः व्रजभाषा में रहा करती हैं, जैसे :—

> लाल गुलाल उड़ाय कीच केशर की छिड़की।
> सबको नाच नचाय सुगति की खोली खिड़की॥

शङ्कर जी का एक निराला ही स्कूल है, जिसका अनुगामी कोई नहीं पैदा हुआ। शङ्कर जी की कविता के अङ्ग प्रत्यङ्ग में, भाव

में, भाषा में, शैली में, यहाँ तक कि शृङ्गार रस तक में एक प्रकार का अक्खड़पन रहता है। कठोर शब्दों से शङ्कर जी को विशेष प्रेम है। बड़े परिश्रम से उनकी ऐसी पंक्तियाँ निकाली जा सकती हैं जिनमें टवर्ग के अक्षर न हों।

बूट पटलून कोट कालर, वो, टोपी डाट
जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
हूँसो ठकुराइ ठेलि ठोठुवा ठकुरिया में
वोना बजमारो वेट वाम्हन बनायेरी॥

अंग्रेज़ी में आज कल एक एक्स्ट्रीमिस्ट दल पैदा हुआ है जो जान बूझ कर कविता में कठोर शब्दों का प्रयोग करता है ताकि उसमें सुसङ्गति अर्थात् (harmony) न पैदा हो। उनका कहना है कि कविता वास्तविक जीवन की छाया है और थोड़े से भाग्य-वान लोगों के अतिरिक्त अधिकांश प्रजावर्ग के कष्टमय जीवन में सुसंगति (harmony) नहीं है इसलिए हम अपनी कविता में (harmony) सुसंगति पैदा करके उसे अस्वाभाविक या केवल भाग्यवानों के जीवन की प्रतिच्छाया क्यों दिखावें। यह तो स्पष्ट है कि शङ्कर जी अंग्रेज़ी के उन कवियों का अनुकरण नहीं करते, पर सम्भव है उनके विचारों से मिलता जुलता कोई विचार वे भी रखते हों। मेरा ख़याल है कि उनके स्वभाव और विचारों में अक्खड़पन है और वही उनकी कोमल से कोमल रचनाओं में प्रतिध्वनित हो जाता है।

Shakespear के with hey and a ho and a hey nonins के ढङ्ग पर अर्थ हीन पदों की भांति वे भी कभी कभी निरर्थक पदावली का प्रयोग करते हैं।

जैसे :—ताग ड्रदिन्ना नागरवेल।

उर्दू में निन्दात्मक काव्य लिखने की बड़ी प्रथा थी। हिन्दी में इस तरह के काव्य बहुत कम लिखे गए हैं पर शङ्कर जी ने इस ओर भी लेखनी चलाई है। कट्टर आर्यसमाजी होने के कारण इनकी रचनाओं में केवल साम्प्रदायिकता की गहरी छाप ही नहीं है बल्कि कुछ शुद्ध साम्प्रदायिक कविताएं इन्होंने अलग से की हैं और अन्य मतों पर बड़ी निर्दयता के साथ कटाक्ष किया है।

एक मैं ही सत्य हूँ, असत्य मुझे भासता है,
ऐसी अवधारणा, अवश्य भूल भारी है।
पूजते जड़ों को, गुण गाते हैं मरों के सदा,
कर्म अपनाए महा चेतना बिसारी है॥
मानते हैं दिव्य दूत, पूत, प्यारे शंकर के,
जानते हैं नित्य निराकार तनधारी है।
मिथ्या मत वालों को सचाई कब सूझती है,
ब्रह्म के मिलाप का विवेकी अधिकारी है।

कल्पित ग्रंथों को कहें, सत्य सनातन वेद।
अन्ध जालिया जाति में, भरते हैं मत-भेद॥
मान सच्चिदानंद के, दूत, पूत, अवतार।
अन्ध जालिया जाति में, भरते हैं व्यभिचार॥

खड़ी बोली के कवित्तों में इन्होंने शृङ्गार-रस की बड़ी उत्तम कविता की है* । मांग पर इनकी कविता में उत्प्रेक्षा अलङ्कार का बड़ा सुन्दर और मौलिक चमत्कार है:—

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है,
कि श्याम घन मण्डल में दामिनी की धारा है ।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर हैं,
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है ॥
शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है,
कि तेजने तिमिर के हिये में तीर मारा है ।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है,
कि ढाल पर खांड़ा कामदेव का दुधारा है ॥

भारतेन्दु बाबू और उनके मित्र-मण्डल ने अधिकांश ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखी थीं, खड़ी बोली में तो नाम को थोड़ा बहुत लिखा था और जो कुछ लिखा था उसमें काव्य गुणों का सर्वथा अभाव था । लेकिन नाथूराम शङ्कर शर्मा (ज० स० १८५६ ई०) और पंडित श्रीधर जी पाठक (ज० स० १८६० ई०) के हाथों खड़ी बोली की सत्ता बहुत कुछ पुष्ट होगई । इन दोनों उच्चकोटि के कवियों ने विविध प्रकार के छन्दों में विविध विषयों पर खड़ी बोली में रचनाएँ कीं । वस्तुतः श्रीधर पाठक को लोग हिन्दी खड़ी बोली का आदि कवि

* जहाँ तक मेरा ख्याल है खड़ी बोली में कवित्त लिखने की प्रथा शंकर जी ही ने चलाई है जिसमें आगे चलकर पं रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरण सिंह आदि ने अच्छा कमाल दिखाया है ।

मानते हैं, पर ऐसा करने में वे शङ्कर जी को क्यों भूल जाते हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता, शङ्कर जी अवस्था में भी पाठक जी से एक वर्ष बड़े हैं। सम्भव है पाठक जी का रचना-काल शङ्कर जी के रचना-काल से पहले आरम्भ हुआ हो यद्यपि इसकी भी अधिक सम्भावना नहीं मालूम होती क्योंकि शंकर जी ने १३ वर्ष की अवस्था से ही कविता करनी आरम्भ कर दी थी। पाठक जी की भाषा शङ्कर जी की भाषा से कहीं अधिक कोमल और मनोहारिणी अवश्य है पर व्रजभाषा की पुट उसमें शंकरीय भाषा से किसी तरह कम नहीं है। मेरा अनुरोध है कि खड़ी बोली के आदि कवि होने का सेहरा पाठक जी के सिर पर बाँधने से पहले हिन्दी संसार 'शङ्कर' जी के दावे पर भी यथेष्ट विचार कर लेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि पाठक जी ने खड़ी बोली की काव्य-भाषा के माँजने का जो प्रयास किया है वह सराहनीय है और उनकी सम्पूर्ण सफलता पर उन्हें बधाई देनी चाहिए। उनकी मृदुल भावनाओं को व्यक्त करने वाली सुष्ठु और कोमल पदावली अत्यन्त मनोहारिणी हुआ करती है:—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत कीसी कैसी सुरीली गुंजार आरही है॥
हर एक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्भुत मिला रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्ति वालो सको तो जा करके कुछ पता लो।
है कौन जोगन वो जो गगन में कि इतनी बुल बुल मचा रही है॥

पाठक जी की रचनाओं की कोमल पदावली ने खड़ी बोली में कविता का पथ उसी तरह सुगम कर दिया जिस तरह आगे चल कर "मधुप" जी की 'विरहिणी व्रजाङ्गना' ने हमारे नव जवान कवियों के हाथ में मञ्जु और मनोहर पदों की एक ऐसी सुन्दर पुष्पावली देदी जिसमें से फूल ले लेकर उन्होंने तरह तरह के हार गूँथने आरम्भ कर दिए। पाठक जी के इसी विशाल प्रभाव के आगे शायद शङ्कर जी के निराले ऊबड़ खाबड़ को दब जाना पड़ता है।

पाठक जी का प्रकृति-वर्णन भी बड़े कमाल का है। काश-मीर के वर्णन में आप कहते हैं:—

कै यह जादू भरी विश्व-बाजीगर-थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोबन रस आयो।
प्रेम-केलि रस रेलि करन रँगमहल सजायो॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥

पाठक जी ने बहुत से राष्ट्रीय गीत भी लिखे हैं और लिखते जारहे हैं, पर दुःख है कि हमारा नव युवक कवि समुदाय उसका अनुसरण करता नहीं दिखाई पड़ता। गीतों का जौहर तो गाने से ही खुलता है पर कुछ अन्दाज़ लगाने के लिये उनका एक सुप्र-सिद्ध गीत मैं नीचे दे रहा हूँ:—

हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का वर्णन केवल नव इन्द्रिय सुख की अनुभूति के ही विचार से किया है। तुलसी और जायसी ने मानवी भावनाओं का आरोपण जहां कहीं प्रकृति में किया है वहां ही मनुष्य के मनोविकारों की उत्कृष्टता दिखाने के लिए ही। प्रकृति में भी आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है ऐसा जानकर प्रकृति-काव्य करने वाले कवि एकाध अब अवश्य नज़र आने लगे हैं पर पुरानों में यह बात न थी।

जय, जय प्यारा भारत देश
जय, जय प्यारा, जग से न्यारा।
शोभित सारा, देश हमारा।
जगत-मुकुट, जगदीश दुलारा।
जग सौभाग्य सुदेश॥
जय जय प्यारा भारत देश॥

जय जय शुभ्र हिमाचल अंगा।
कलरव-निरत कलोलनि गंगा॥
भानु प्रताप चमत्कृतगंगा।
तेज पुंज तप वेश।
जय जय प्यारा भारत देश॥

पाठक जी ने जी खोलकर खड़ी बोली को अपनाया तो, उसको सँवारा सिंगारा, और बड़ा आदर सत्कार भी किया, पर ब्रज भाषा का मोह छोड़ न सके। उसका मान रखने में उन्हें अपनी प्रतिभा का अधिकांश उपयोग करना ही पड़ा। अभीतक साहित्य की

पटरानी का पद हठीली, छबीली और रसीली ब्रज भाषा के ही अधिकार में रहा। वह पद खड़ी बोली को दिलाने के लिए किसी साहसी और निर्भीक योधा की आवश्यकता थी। यह काम कोमल हृदयी कवियों के मान का न था। लेकिन कोई अपने असली अधिकारों से अधिक दिन तक वञ्चित नहीं रखा जा सकता। खड़ी बोली का पक्ष समर्थन करने के लिए उसे उसका उचित अधिकार दिलाने के दृढ़ संकल्प को लेकर हिन्दी साहित्य का एक प्रचण्ड योधा मैदान में आगया और उसने अपने अमित प्रभाव और दृढ़ निश्चय से यह काम कर भी दिखाया। वह योधा पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी थे जो उस समय हिन्दी की प्रमुख पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन करते थे। आपने स्वयं भी खड़ी बोली में साधारणतः अच्छी कविता की, पर उससे भी लाभ-कारी आपका वह प्रोत्साहन सिद्ध हुआ जो आप बड़ी तत्परता और सहृदयता के साथ खड़ी बोली के कवियों को देते रहे। आप का नाम हिन्दी संसार में कभी न अस्त होने वाला तारा है। यद्यपि आप मुख्यतः गद्य के लेखक हैं और कवि नाम से आपकी ख्याति बहुत कम है और इसका कारण केवल यह मालूम होता है कि आपने अपने बहुत से सफल प्रयास से खड़ी बोली के कवियों को उठाकर अपना मनोरथ पूर्ण समझा और स्वयं अपना काव्य-प्रयास छोड़ दिया।

द्विवेदी जी के होनहार शिष्य बाबू मैथिली शरण जी गुप्त और हिन्दी के पुराने सेवक पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने खड़ी बोली

की वह धाक जमादी कि जिसके सामने ब्रजभाषा को ख़ाहम-ख़्वाह दब जाना पड़ा। उधर उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास ने' सुन्दर, मनोहारी और गम्भीर चिरकाल के लिए खड़ी बोली की क्षमता प्रमाणित करदी और इधर गुप्त जी की 'भारत भारती' ने भारत के नव जवानों में एक नई रूह फूँकदी। भारत भारती के प्रकाशित होने पर द्विवेदी जी ने उस पुस्तक को हिन्दी भाषा भाषी संसार में युगान्तर उपस्थित कर देने वाली पुस्तक कहा था। द्विवेदी जी के इस आलोचनात्मक वाक्य को बहुत से लोग उनके व्यक्ति गत स्नेह का उद्गार समझते हैं, किन्तु जिन्होंने सन् १९१४ ई० के लगभग नवयुवकों को भारत भारती के पदों को गाते सुना है और ज़रा अच्छी तबियत पाये हुए उत्साहियों को गुनगुनाकर उसी तरीके पर अपनी तुकबन्दियों को बड़े अनुराग से लिखते हुए देखा है वे द्विवेदी जी के उपरोक्त वाक्य में कोई अत्युक्ति नहीं देख सकते। 'भारत भारती' अपने समय की राष्ट्रीयभावनाओं का जीता जागता उद्गार थी। वह अपना काम कर ही गई, स्थायी साहित्य की कठोर कसौटी पर वह अब ठहरे या न ठहरे। उसकी उपयोगिता का क़ायल होना हमारे तात्कालिक-परिस्थिति के ऐतिहासिक ज्ञान और कृतज्ञता के भाव पर निर्भर है। राष्ट्रीयता स्वयं एक चलती हुई चीज़ है और उसकी भावनाएं मानवता के महा-सिन्धु में उठ उठकर विलीन होने वाली लहरें हैं, इसलिए उत्तम से उत्तम राष्ट्रीय कवि की ख्याति क्षण भङ्गुर है, लेकिन यह किसी की अमूल्य प्रतिभा का वह श्रेष्ठ बलिदान है जिसको भूल

जाना मानव स्वभाव की त्रुटि और मानव-चरित्र का कलङ्क समझना चाहिये। काव्य-कलाकी दृष्टि से गुप्त जी के 'जयद्रथ वध' को भारत-भारती से ऊँचा पद मिलेगा। भाषा के गौरव की थोड़ी सी कमी ज़रूर है, किन्तु जहाँ तक मनोगत भावों के चित्रण का सम्बन्ध है, जयद्रथ वध को गुप्त जी की सर्व श्रेष्ठ रचना समझनी चाहिए।

नीचे मैं वीर और करुणा रस के उदाहरण में कुछ पंक्तियां दे रहा हूँ :—

फिर नृत्य सा करता हुआ धन्वा लिए निज हाथ में।
लड़ने लगा निर्भय वहां वह शूरता के साथ में॥
होता प्रविष्ट मृगेन्द्र शावक ज्यों गजेन्द्र समूह में।
करने लगा वह शौर्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में॥
तब, छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड शरावली।
मार्तण्ड मण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली॥
यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे।
उसके भयङ्कर वेग से अस्थिर सभी होने लगे॥

अभिमन्यु के शव पर उत्तरा का विलाप :—

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थिबन्धन साथ में।
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में॥
मैं हूँ वही जिसको किया था विधिविहित अर्द्धाङ्गिनी।
भूलो न मुझको नाथ! हूँ मैं अनुचरी चिरसङ्गिनी॥
हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है।
है क्या तुम्हारे योग्य; यह तो भूमि-सेज कठोर है॥

रख शीश मेरी जांघ पर जो लेटते थे प्रीति से।
यह लेटना अति भिन्न है उस लेटने की रीति से॥
किसका करूँगी गर्व अब मैं भाग्य के विस्तार से?
किसको रिझाऊँगी अहो! अब नित्य नव शृङ्गार से?

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त बाबू मैथिली शरण जी गुप्त ने 'मधुप' नाम से बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त जी की 'विरहिणीव्रजाङ्गना' और 'मेघनाद वध' नामी महाकाव्य का तथा श्री युत् चन्द्रसेन के प्रभाशिर युद्ध का हिन्दी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में विशेषतः विरहिणी व्रजाङ्गना के अनुवाद में भाषा इतनी मधुर, कोमल और प्राञ्जल है कि उसने हिन्दी संसार में काव्य रचना की एक नई शैली ही पैदा कर दी है। उसकी कोमल पदावली खड़ी बोली के नये उठते हुए कवियों के कानों में बेतरह समा गई और उनकी स्वतंत्र रचनाओं में वही फूटकर बह निकली। श्रीयुत पाठक जी के बाद 'मधुप' जी के अनुवादों की मधुर भाषा ने यह अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया कि काव्य की शाब्दिक मधुरिमा के लिए व्रजभाषा के आश्रय की बिल्कुल ज़रूरत नहीं है। विरहिणी व्रजाङ्गना के एकाध पद मैं नीचे देता हूँ:—

डाली भर कर फूल आज क्यों तोड़े हैं इतने सजनी।
कभी पहनती है तारों की माला मेघावृत्त रजनी
हाय! करेंगी क्या अब लेकर सुमन-रत्न व्रज बालाएं?
अब क्या फिर वे पहन करेंगी फूलों की मृदु मालाएँ?

मलयाचल गृह सुना तुम्हारा जहाँ विरहिणी गाती है।
यथा अप्सरा नन्दन वन में श्रवण-सुधा बरसाती हैं॥
हे मलयानिल ! कुसुम-कामिनी अति कोमल कमला ऐसी।
सेवा करती सदा तुम्हारी रति-नायक की रति जैसी॥
हाय! आज ब्रज में क्यों फिरते जाओ तुम सरसी के तीर।
मृदुल हिलोर युक्त नलिनी को मुदित करो हे मलय-समीर॥
जाओ जहाँ कोकिला गाती, मधुवर्षा सी होती है।
कुंजों में इस लिये विरहिणी राधा बैठी रोती है॥

अनुवादों में 'मधुप' जी ने जिन छन्दों का उपयोग किया उनका भी हिन्दी-जगत में जी खोल कर अनुकरण किया गया है।

अब खड़ी बोली में बड़े धड़ाके के साथ कविता होने लगी और बहुत से नव जवान कवि बड़े उत्साह के साथ अखाड़े में उतरने लगे। इनमें से कइयों ने बड़ी उन्नति की और उनका शुमार आज लब्धप्रतिष्ठ कवियों में है। खड़ी बोली के इस वर्ग वाले समस्त कवियों का एक पृथक स्कूल हम बना सकते हैं और उसका नाम 'द्विवेदी स्कूल' रख सकते हैं, क्योंकि इस प्रवाह को वेग प्रदान करने वाले द्विवेदी जी ही थे। उनके इस गुरु प्रसाद को 'गुप्त' जी और खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि ठाकुर गोपाल शरण सिंह आदि मुक्त कण्ठ से स्वीकार भी करते हैं। इस स्कूल के प्रधान कवियों में गुप्त जी के अतिरिक्त पंडित माधव शुक्ल, राम-चरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, ठाकुर गोपाल शरण सिंह पंडित बदरी नाथ भट्ट, पंडित माखन लाल चतुर्वेदी और श्री मती

सुभद्रा कुमारी चौहान की गणना हो सकती है। यद्यपि पंडित गया प्रसाद जी शुक्ल एक अपना स्कूल अलग स्थापित करना चाहते हैं पर उनकी रचना-शैली पर ध्यान देने से मालूम होता है कि उनको भी इसी समूह के अन्तर्गत समझना चाहिये। हां, ये समस्त कवि ब्रज भाषा में भी अच्छी रचनाएं कर लिया करते हैं पर इनकी प्रतिभा का विकास विशेष रूप से खड़ी बोली में ही हुआ है। इनके लिए ब्रज भाषा का प्रयोग उसी मात्रा तक है जिस मात्रा तक भारतेन्द्र बाबू और उनके मित्र वर्ग की रचनाओं में खड़ी बोली का प्रयोग होता था।

इन कवियों की व्यक्ति गत रचनाओं की आलोचना करना आवश्यक होने पर भी स्थानाभाव से सम्भव नहीं है इस लिए इन की कृतियों पर एक सरसरी निगाह दौड़ाई जा सकती है।

पंडित माधव शुक्ल का हृदय राष्ट्रीय भावनाओं से सराबोर है उनकी कविता सजीव और भावपूर्ण होती है, पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भाषा मँजी हुई नहीं मालूम पड़ती।:—

जिनके शुभ्र स्वच्छ हिय पट पर जग विकार का लगा न दाग।
भरा हुआ है अटल जिन्हों में केवल मातृ देवि-अनुराग॥
बँधी हुई मुट्ठी को जिनने अब तक नहीं पसारा है।
जिनको हाथों से पैरों का अधिक अँगूठा प्यारा है॥
उन्हीं अनूठे कानों में यह मेरी स्वरमय आत्म-पुकार।
पहुँचे आश-लता की जड़ में जिसमें होय शक्ति संचार॥

पंडित राम चरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय और रूप-

नारायण पाण्डेय की रचना सरल, श्रुतबोध और साधरण होती है। भाषा के दोषों से सर्वथा खाली रहती है। ठाकुर गोपाल-शरण की रचना निहायत भाव पूर्ण और भाषा अत्यन्त शुद्ध, और सरल होती है। यह एक ऐसा गुण है जिससे पाठकों पर आतङ्क तो नहीं जमता, पर काव्य-कला के मर्मज्ञों की दृष्टि में इसका बड़ा मूल्य है और यह गुण बहुत बड़े अभ्यास के बाद प्राप्त होता है। ठाकुर साहेब की कविता में विशेषतः लम्बी होने पर पुनरुक्ति दोष आजाता है।

इस नादान निगोड़े मन को किस प्रकार समझाऊँ ?
उसकी उलझन सुलझ न सकती मैं कैसे सुलझाऊँ ?
होकर भी मैं विमन कहाँ तक मन की बात छिपाऊँ ?
मन जिसके हित विकल हो रहा उसे कहाँ मैं पाऊँ ?
हम लोगों को यहाँ छोड़कर तुमने कहाँ किया प्रस्थान ?
चले गए तुम वत्स ! अकेले, कैसे इसको लें हम मान ?
कुछ न समझ में आया अबतक, थी किसकी वह चाल कराल ?
उषा क्या रवि के भ्रम से हा ! तुम्हें ले गई प्रातः काल ?
चन्द्र खिलौना को तुम उत्सुक रहते थे सब काल।
पर हम उसे न ला सकते थे जान गए क्या तुम यह हाल ?
इसी लिये उसको लाने को क्या तुम स्वयं गए हो आज ?

पंडित बदरी नाथ भट्ट की कविता सरल और साधारण दर्जे की होती है। ऐसा मालूम होता है कि कविता करने में उन्हें विशेष प्रयास करना पड़ता है।

पंडित माखन लाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय कविताएं भाव पूर्ण और ज़ोरदार होती है। लेकिन कभी कभी काव्य-कला भावों के बहुत पीछे रह जाती है।

जीवन रण में वीर, पधारो, मार्ग तुम्हारा मङ्गल मय हो।
गिरि पर चढ़ना, गिर कर बढ़ना, तुम से सब विघ्नों का भय हो॥
नेम निभाओ, प्रेम दृढ़ाओ, शीश चढ़ा, भारत उद्धारो।
देवों से भी कहला लो यह—विजयी भारत वर्ष पधारो॥
क्यों पड़ी परतंत्रता की बेड़ियां? दासता की हाय! हथकड़ियां पड़ी।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी? कण्ठमें ज़ञ्जीर की लड़ियां पड़ी?
दास्य भावों के हलाहल से हरे! मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों?
यह पिशाचा उच्चशिक्षा सर्पिणी, कर रही वर वीरता निःशेष क्यों?

पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी भी द्विवेदी स्कूल के अन्तर्गत अच्छे कवि हो गए हैं। इनकी भाषा बड़ी सरल, सुन्दर और सुकुमार हुआ करती थी। संगीत-प्रवाह को इनकी रचना का प्रधान गुण समझना चाहिये :—

हरियाली निराली दिखाई पड़े, शुभ शान्ति-क्षमा-छवि छाई हुई।
पति-संयुत सुन्दरी जारही है श्रम चिन्तित ताप सताई हुई॥
सरिता उमड़ी तट जोड़ी खड़ी अति प्रेम से हाथ मिलाए हुए।
सुकुमारी सनेह से सींचती है, वह प्रीतम भार उठाए हुए॥
दिन बीत गया निशि चन्द्र लसै नभ देखलो शोभती तारावली।
इस मोदमयी वर यामिनी में यह कामिनी कन्त ले भौन चली॥

आप बालोपयोगी कविता करने में भी बड़े सिद्ध हस्त थे।

जामुन

जामुन क्या काली काली है ; कैसी सूरत मतवाली है !
फल से काली डाल हुई है ; कहीं कहीं पर लाल हुई है ॥
गिरा हुआ फल पाते हैं हम ; धूल फूँक खाजाते हैं हम ।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी की कविता उच्च भावों से परिपूर्ण रहती है । उनके 'पथिक' की भाषा बड़ी क्लिष्ट हो गई है पर खड़ी बोली के कवित्त वे बड़ी मनोहर और सरल भाषा में लिखते हैं और भावों की उच्चता तो उनका प्रधान गुण है । ऊँचे भावों को लेकर कविता करने में वे बड़ा प्रयास करते हैं जिससे रचना का स्वतःप्रवाह (Spontaniety) मारा जाता है पर निम्न श्रेणी के भावों में धाराप्रवाह कविता करना सराहनीय गुण न समझा जाना चाहिए । जो परिश्रम करके अच्छी चीज़ पैदा कर सके उसमें प्रतिभा की हीनता दिखाकर उसका यथेष्ठ आदर न करना गुण-ग्राहकता का शोचनीय अभाव ही है । त्रिपाठी जी को काव्य-कला में सुरुचि पैदा कराने का यथेष्ठ श्रेय मिलना चाहिए ।

पथिक :—

होते जो किसी के विरहाकुल हृदय हम ।
होते यदि आंसू किसी प्रेमी के नयन के ॥
पूरे पतझड़ में वसंत की बयार होते ।
होते हम जो कहीं मनोरथ सुजन के ॥
दुःख दलितों में हम आशा की किरन होते ।
होते यदि शोक अविवेकियों के मन के ॥

मानते तो विधि का अधिक उपकार हम।
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन के॥

त्रिपाठी जी की रचनाओं में उस अभागे दलित और पतित समाज के लिए एक जिसको विधाता के निर्दय विधान या संसार की विषम व्यवस्था ने जीवन का विषाद-मय कोना दे रक्खा है और जिनकी सूखी हुई हड्डियों के ऊपर उन्हीं के रक्त और मांस से बनाए हुए वैभव के महलों में मुट्ठी भर भाग्यवान लोग ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं एक अगाध सम वेदना भरी रहती है। त्रिपाठी जी दीनों की आह में अनहद का नाद सुनते हैं, पतितों के पतन में विश्वात्मा का उत्थान देखते हैं और किसी दुखिया की सूखी हुई हड्डियों में अपने आराध्य देव का दर्शन करते हैं। संसार का कोई भी सहृदय कवि दुख और सुख की इस विषमता से आँख खोल कर उषा और इन्द्रधनुष में सृष्टि के सौन्दर्य देखने की अपेक्षा नहीं कर सकता। आगरे की जेल में लिखी हुई त्रिपाठी की एक कविता उनकी इस समवेदना का परिचय देती है।

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता सङ्गीत में भजन में॥
मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥

बन कर किसी का आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥
मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में॥
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में॥
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तूही।
तूही विहँस रहा था महमूद के रुदन में॥
प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तूही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥
आख़िर चमक पड़ा तू गाँधी की हड्डियों में।
मैं तो समझ रहा था सुहराब पीलतन में॥
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क़दर है।
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं सरन में॥

पंडित गया प्रसाद जी शुक्ल राष्ट्रीय कविताएँ तो 'त्रिशूल' नाम से और अन्य रचनाएँ 'सनेही' के नाम से किया करते हैं। आप ब्रजभाषा में भी कविता करते हैं पर अधिकांश रचनाएँ खड़ी बोली में ही हुआ करती हैं। त्रिशूल जी में सनेही जी की अपेक्षा अधिक ज़ोर और सजीवता है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि त्रिशूल जी अपना उर्दू वाला ज़ोर हिन्दी में नहीं ला सके।

तुम होगे सुकरात, ज़हर के प्याले होंगे।
हाथों में हथकड़ी, पदों में छाले होंगे॥

ईसा से तुम, और जान के लाले होंगे ॥
होगे तुम निश्चेष्ट, डस रहे काले होंगे।
होना मत व्याकुल कहीं इस भव-जनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद से ॥
सत्य रूप हे नाथ! तुम्हारी शरण रहूँगा।
जो व्रत है ले लिया लिए आमरण रहूँगा ॥
ग्रहण किये मैं सदा आप के चरण रहूँगा।
भीत किसी से और न हे भयहरण! रहूँगा ॥
पहली मंजिल मौत है, प्रेम-पन्थ है दूर का।
सुनता हूँ, मत था यही सूली पर मन्सूर का ॥

द्विवेदी स्कूल की बड़ों वाली पीढ़ी में सुभद्रा कुमारी चौहान को सब से अन्तिम कवि समझना चाहिए। इनके बाद फिर नई पीढ़ी के कवियों का समय आ जाता है जिनकी चर्चा मैं आगे चल कर करूँगा। सुभद्रा कुमारी की भाषा बड़ी सरल, सुबोध, सजीव और सुकुमार हुआ करती है; भाव अत्यन्त चुटीले और मर्मान्त का पता देने वाले होते हैं। संगीत उनकी पंक्तियों में यमुना की लहरों की भाँति बहता है। सुभद्रा कुमारी जी उन कवियों में हैं जो इस विशाल सृष्टि के रहस्य का प्रतिविम्ब अपने ही जीवन के आईने में देखते हैं और अपनी ही बातों को समस्त सहृदय संसार की सम्पत्ति बना देते हैं।

असहयोग के ज़माने में किसी के (पर नहीं किसके?) चलते समय उन्होंने एक हृदयस्पर्शिणी कविता लिखी थी:—

तुम मुझे पूँछते हो जाऊँ ; मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो ।
'जा' कहते रुकती है ज़बान ; किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो?
सेवा करना था जहाँ मुझे, कुछ भक्तिभाव दर्शाना था ।
उन कृपा कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था ॥
मैं सदा रूठती ही आई प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना ।
वह मान बाण सा चुभता है अब, देख तुम्हारा यह जाना ॥

आपने अपने ही हृदय के कोने में जो स्त्रियों का अथवा कहिये मनुष्यों का सहज स्वभाव दिखाया है उसकी सादी बहार भी देखिए :—

थी मेरा आदर्श बालपन से तुम मानिनि राधे ! ।
तुम सी बन जाने को मैंने व्रतनियमादिक साधे ॥
अपने को माना करती थी मैं वृषभानु किशोरी ।
भाव-गगन के कृष्णचन्द्र की थी मैं चतुर चकोरी ॥

आगे चल कर क्या हुवा ?

बचपन गया, नया रँग आया और मिला वह प्यारा ।
मैं राधा बन गई, न था वह कृष्णचन्द्र से न्यारा ॥
किन्तु कृष्ण यह कभी किसी पर ज़रा प्रेम दिखलाता ।
नख सिख से तो जल जाती हूँ खान पान नहिं भाता ॥
मुझे बता दो मानिनि राधे, प्रीति-रीति यह न्यारी ।
क्यों कर थी उस मन मोहन पर, निश्चल भक्ति तुम्हारी ॥
ले आदर्श तुम्हारा मन को रह रह समझाती हूँ ।
किन्तु बदलते भाव न मेरे शान्ति नहीं पाती हूँ ॥

हृदय की यह निष्कपट बात कह कह कर इस चौहान महिला ने नारी स्वभाव का जीता जागता चित्र खड़ा कर दिया। ऐसी सीधी सादी सच्ची बातें हृदय से निकल कर हृदय में ही अनायास ही प्रवेश कर जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने हृदय का यह दिग्दर्शन जहां एक ओर प्रिय होता है वहां दूसरी ओर ज़रा कम सहृदय पाठकों की दृष्टि में अपने गौरव और आदर को कम कर देता है पर आदर और प्रियता का संग निर्वाह कितना कठिन, है यह वही जानते हैं जिन्हें प्रिय बनने का अवसर मिला है। हमारे मनस्तत्व का एक ऐसा भाग है जो संसार की दृष्टि में प्यार की अभिलाषा रखता है। इन दो भावनाओं में कौन अधिक वाञ्छनीय है यह कहना बड़ा मुश्किल है। काव्य संसार में प्यार के मधुर साम्राज्य का अधिक विस्तार है इससे कौन इनकार कर सकता है। आदर के सर्वोच्च शिखर पर आसीन हो कर भी और संसार के समस्त वैभव का उपयोग करके भी मनुष्य की आत्मा 'प्यार' के लिए किस तरह तड़फड़ाती है इसका अन्दाज़ा हम महा महिम 'चाणक्य' की उस मर्मान्तिक अभिलाषा से लगा सकते हैं जिसका उद्गार उन्होंने राजकीय वस्त्र फेंक कर कात्यायन के गले से लिपट कर किया था।

द्विवेदी स्कूल के कवियों के अतिरिक्त कुछ और बड़े बड़े कवियों ने भी अपने अपने ढङ्ग पर कविता की है पर उनको किसी एक स्कूल के अन्तर्गत जाना बड़ा कठिन मालूम होता है, उनमें गण्यमान पंडित नाथू राम शङ्कर शर्मा. जिनका ज़िक्र हो

चुका है, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय और पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि हैं।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय कई प्रकार की कविता करने में अपना कौशल दिखला चुके हैं। आपका 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य संस्कृतमयी भाषा और संस्कृत की शैली का नमूना है। इस शैली और इस भाषा ने आपकी कविता में सरसता और संगीत-प्रवाह पैदा करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है, पर साथ ही साथ शायद इसी के कारण स्वाभाविकता की रक्षा न तो आप भाषा में ही कर सके हैं और न भावों में ही। ज़रा सी बात को बड़े ढीलेपन के साथ खींच खींचकर बड़ी दूर तक फैलाकर आपको बड़े टेढ़े मेढ़े ढङ्ग से कहनी पड़ी हैं; परिणाम यह हुआ है कि वर्णन स्वतः अत्यन्त रोचक होता हुआ भी अर्थ पर ग़ौर करने से बिल्कुल निर्जीव मालूम होता है। भाषा और शैली के लालित्य के भार के नीचे दबकर बेचारे भाव अत्यन्त क्षीण और शक्तिहीन हो गए हैं। इससे यह पता चलता है कि हिन्दी भाषा में संस्कृत के वर्णात्मक छन्द भावों की सजीविता और स्पष्टीकरण में सफल नहीं हो सकते। हिन्दी के लिए वस्तुतः ये इतने जटिल हो जाते हैं कि कवि की सारी शक्ति उन्हीं के सम्हालने में व्यय हो जाती है, भाव उसके लिए केवल गौण पदार्थ से रह जाते हैं। संस्कृत न जानने वालों के लिए 'प्रिय प्रवास' के अधिकांश स्थानों के अर्थ समझना है तो बड़ी टेढ़ी खीर पर उसकी कोमलकान्तपदावली और वृत्तियों का संगीत-प्रवाह बिना किसी शब्द का अर्थ समझे ही

हृदय को मोह लेने के लिए पर्य्याप्त हैं। आरम्भ में संध्या का वर्णन बड़ा ही मनोमुग्धकारी है:—

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम-वृन्द का, कलनिनाद समुत्थित था हुआ॥
ध्वनिमयी विविधा विहगावली, उड़ रही नभ-मण्डल-मध्य थी॥

उपाध्याय जी ब्रजभाषा में जो कविताएँ करते हैं वे प्रायः चमत्कार से शून्य हुआ करती हैं, आज कल उनकी रचनाएँ प्रायः आमफ़हम भाषा में हुआ करती हैं, जिसको वे प्रायः चौपदों के रूप में लिखा करते हैं। उनके विषय प्रायः सामाजिक हुआ करते हैं और उनमें उर्दू के शेरों की भाँति मुहाविरों के चमत्कार का उद्योग किया जाता है। चुभने वाले और क्षणिक प्रभाव डालने वाले इस गुण की हिन्दी कविताओं में कुछ कमी सी है, अतः उपाध्याय जी का यह उद्योग सर्वथा वाञ्छनीय और सराहनीय है। कवि सम्मेलनों में पढ़ने के लिए इस प्रकार की रचनाएँ बहुत उपयुक्त हुआ करती हैं।

जो न उसमें झलक दिखाएँगी; सब भली चाहते ठिकाने से॥
आपके तो खिले हुए मुँह की; थी रहेगी न श्री लगाने से॥
नेक के सिर पर पड़ी कठिनाइयाँ; नेकियों की ही लहर में हैं बही।
तुम तिलक घुजते व पूँछते ही रहे, पर तुम्हारी पूँछ होती ही रही॥

'आँसू' इत्यादि विषय पर आपने कुछ चौपदे अच्छे लिखे हैं, पर संकोच के साथ कहना पड़ता है कि एकाध दानों के

लिए आपको ठोकरियों भुस जमा करना पड़ा है, फिर भी आपने एक ऐसा मार्ग दिखाया है जिस पर चलती हुई चीज़ों के लिखने वालों को अभ्यास करना चाहिए।

आधुनिक विषयों पर व्रजभाषा में ठिकाने की कविता करने वालों में स्वर्गीय पं॰ सत्यनारायण जी कविरत्न का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

यद्यपि वर्तमान हिन्दी-साहित्य के पद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का पूर्ण रीति से दौर दौरा हो गया है, पर थोड़े से प्राचीनता के प्रेमी सज्जन व्रजभाषा और अवधी के प्रति भी अपनी क्रियात्मक श्रद्धा दिखलाते जाते हैं। इन बेगुनाह भक्तों का यह अटपट उद्योग बड़ा ही दयनीय और श्रद्धा के योग्य है। बिजली के प्रखर प्रकाश में बूढ़े बाबा के अप्रयोजनीय चिराग़ को देख कर वे अज्ञ लड़के भले ही हँस दें, पर समझदारों के लिए तो वह परिक्रमा की चीज़ है। इन बुज़ुर्गों में पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल और बाबू जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

पं॰ रामचन्द्र जी शुक्ल ने अवधी में 'बुद्ध चरित' नामी काव्य लिखा है। शुक्ल जी खड़ी बोली में भी मज़े की कविता कर लेते हैं, पर 'बुद्ध चरित्र' को अवधी में लिखने का कारण वे बुद्ध का अवध में पैदा होना बतलाते हैं। शायद म॰ गांधी पर काव्य लिखना वे गुजराती में ही उपयुक्त समझें। प्रकृति-वर्णन में शुक्ल जी ने वास्तविक चित्र खींचने और परिपाटी को छोड़ कर साधारण पदार्थों के वर्णन करने का नमूना कई जगह पर दिखलाया है:—

नगर से दूर कुछ गांव की थी बस्ती एक,
हरे भरे खेतों के समीप अति अभिराम;
जहाँ पत्र जाल अंतराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल, श्वेत छज्जों के सँवारे धाम ॥

आगे चल कर आप बरगद, महुवा, आम, नीम, पीपल, गन्ना, मूरी और हरी हरी घास और सूखती तलइयों में लाल लाल काइयों इत्यादि का बड़ा सचित्र और सजीव वर्णन करते हैं। 'अछूत की आह' शीर्षक वाली कविता में आपने अपनी सहृदयता का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। उसमें एक पंक्ति 'जन्म के दिन फूल की थाली बजी' मुझे बहुत पसंद आई।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने अवधी में एक काव्य लिख कर अपनी प्राचीनता की प्रियता का परिचय दिया है, उसी तरह श्रीजगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' ब्रजभाषा के अनन्य भक्त हैं. आप में विशेष ख़ूबी यह है कि आप सिवा ब्रजभाषा के और किसी भी भाषा में पद्य रचना नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि आप की जैसी शुद्ध ब्रज-भाषा लिखने वाला आज कोई भी हिन्दी का लेखक वर्तमान नहीं है। जिस प्रकार आप भाषा और शैली में नवीनता को स्थान नहीं देते उसी प्रकार भावों में भी अधिकांशतः राधा और कृष्ण की ही शरण लेते हैं। आपका 'गंगावतरण'* नामी एक काव्य

* यह काव्य अब स्थानीय 'इंडियन-प्रेस' से प्रकाशित हो गया है, और हिन्दुस्तानी एकाडमी से रुपये ५००) का और अयोध्या जी की महारानी से रुपये १०००) का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। —सम्पादक

निकलने वाला है। नमूने के लिए आप का एक छन्द नीचे दिया जाता है।

ढोंग जात्यो ढरकि, हरकि उर सोग जात्यो,
जोग जात्यो सरकि सकम्प कँखियानि तैं।
कहैं 'रतनाकर' न करते प्रपञ्च ऐंठि,
बैठि धरा देखते कहूँ धौं नखियानि तैं॥
रहते अदेख नहिं वेष वह देखत हूँ,
देखत हमारैं जान मोर पँखियानि तैं।
ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते न नैकु,
देखि लेते कान्ह जो हमारी अँखियानि तैं॥

अवधी के पुनरुत्थान में, जहाँ तक मुझे मालूम है शुक्ल जी का अनुसरण किसी ने नहीं किया, पर ब्रजभाषा के कलेवर में साँस फूँकने वाले कई सहृदय कवि 'रत्नाकर' जी के साथ आज भी अपनी तूती बोलाये जा रहे हैं। इनमें से दो होनहार कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो हमारे श्री पं रामशङ्कर जी शुक्ल 'रसाल' हैं और दूसरे *श्रीपद्मधर जी अवस्थी हैं। श्री 'रसाल' जी का एक कवित्त नमूने के लिए पेश करता हूँ:—

मुरली

जामैं ना सुमन फैलि फूलत फबीले कहुँ,
जामैं गाँस-फाँस कौ बिसाल जाल छायो है।

* हमें शोक है कि अवस्थी जी का देहावसान जून १९२८ ई० में काशी जी में कालरा (विसूचिका) के कारण हो गया। —सम्पादक

काया कुबरी है, पोर पोर में पोलाई परी,
जीवन विफल जासु विधि ने बनायो है॥
ताहू पै दवारि बारि बंस-बंस नासिबे कौं,
विधि ने सकल विधि ठाठ ठहरायो है।
देखि हरि-यारी, अपनायो ताहि वंसी करि,
हरि ने 'रसाल' अधरामृत पियायो है॥

'माधुरी' से

हिन्दी काव्य-गगन के नवीन और उदीयमान सितारों का ज़िक छेड़ने के पहले उपर्युक्त विवेचना पर एक विहङ्गम दृष्टि दौड़ा लेनी चाहिए। मैंने अपने पूज्य कवियों की कृतियों पर बड़ी हमदर्दी के साथ विचार किया है। जो कुछ थोड़े बहुत गुण उनमें वर्तमान हैं उन पर यथाशक्ति स्थान और समय के सङ्कुचित विस्तार के अनुसार प्रकाश डालने की कोशिश की है। हमारी मातृभाषा के पुनरुद्धार में उनके सराहनीय उद्योग का इतना बड़ा भाग है और हमारी उदीयमान और भवितव्य प्रतिभाओं पर उनका इतना बड़ा ऋण है कि हम उनकी सीधी सादी रचनाओं को तीव्र आलोचना की आंच में फूँक कर उड़ाना नहीं चाहते। उनकी आरम्भिक कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उनकी रियायत न करना हमारी संकीर्णता और उनका आदर न करना हमारी बे अदबी और अकृतज्ञता का द्योतक होगा। नैसर्गिक प्रतिभा सब में नहीं हुआ करती, उसका तो कभी कभी आकस्मिक परिस्फुटन भी हुआ करता है, पर यदि बहुत ध्यान पूर्वक देखा

जाय तो उसको भी आकस्मिक कहना केवल हमारे सीमित ज्ञान और विस्मय-प्रियता का परिचायक है। कबीर, सूर, और तुलसी के समान विलक्षण प्रतिभाओं का जितना ही ऋण उनकी अनुगामिनी संतानों पर है उतना ही उनकी अग्रगामिनी सन्तानों का ऋण उन पर था। आकस्मिक और विलक्षण कही जाने वाली प्रतिभाएँ छोटी छोटी असंख्य प्रतिभाओं का सामूहिक उद्‌गार मात्र हैं। रामायण के जगद्विख्यात चरित्रों में उर्मिला की भाँति छिपी रह कर भी ये प्रतिभाएँ सूक्ष्मदर्शी आलोचकों के अन्तर्लोक में तारों की भाँति चमका करती हैं। असंख्य भक्तों के प्रबल आवेग का अस्फुट गान कबीर, सूर और तुलसी की वृहद्रचनाओं में फूट निकला था। अब हमारे छोटे मोटे सभी कवियों ने वह वातावरण तैयार किया है जिसमें किसी न किसी भावी प्रतिभा का फूट निकलना अवश्यंभावी है। उसके प्रखर प्रकाश में इन दीपकों के मलिन हो जाने में ही इनका श्रेय है, तथापि इनकी उपयोगिता एक दम नष्ट होना उतना ही असम्भव है जितना हमारे लिए वह हानिकर है। याद रखना चाहिए कि हमारे जीवन में ऐसे अन्धकारमय कोने हुआ करते हैं जहाँ इन प्रतिभाओं का प्रखर प्रकाश नहीं पहुँचा करता, वहाँ हम इन्हीं दीपकों के मधुर प्रकाश से अपना काम चलाते हैं। हम जानते हैं कि हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक के कवियों में कोई ऐसा कवि नहीं निकला जिसकी रचनाएँ संसार के सम्मुख सिर ऊँचा उठाकर रक्खी जा सकें, पर हम यह भी जानते हैं कि हिन्दी भाषा-

भाषी संसार इस ज़माने में किसी ऐसे प्रबल आवेग से आलोड़ित नहीं हुआ जिसकी गणना संसार के आन्तरिक या बाह्य आन्दोलनों में की जा सके। उस आवेग का न कोई क्रियात्मक उद्गार किसी महापुरुष में हुआ न उसका वाचात्मक उद्गार ही किसी महाकवि में हुआ। यदि हिन्दुस्तान ने एक महात्मा गांधी पैदा किया तो उसने एक रवीन्द्रनाथ भी पैदा किया। न बहुत से गांधी देख पड़ते हैं न बहुत से रवीन्द्रनाथ ही। यदि आपके शिथिल मस्तिष्क में संसार को हिला देने वाले कोई ज़ोरदार विचार नहीं पैदा हुए, यदि आपके निर्जीव हृदय में विश्व-विधान को बहा देने वाली प्रबल भावनाएँ नहीं उठीं तो आप उसका उद्गार किसी महाकवि में कैसे देख सकते हैं। जो चीज़ हुई नहीं उसका उद्गार कैसा! जैसे आप कभी कभी उचक कर बैठ जाते हैं वैसे ही आपके कवि कभी कभी एकाध पंक्ति ज़ोरदार लिख कर फिर और कुछ लिखने लगते हैं। यदि आज रूस संसार में महाक्रान्तिकारी बोल्शेविज़्म का आयोजन कर सकता है तो वह Dostoevsky ऐसे विश्वविख्यात लेखक का भी जन्म दे सकता है जिसकी प्रतिभा पर मुग्ध हो कर प्रतिरोधी जाति के प्रसिद्ध समालोचक Middleton Murray को भी रूस के सामने आदर से सिर झुका कर कहना पड़ता है।

'In Russian literature alone can be heard the trumpet-note of a new world: other writers of other nations do no more than play about the feat of the

giants who are Tolstone and Dostoevsky, for even though the world knows it not, an epoch of the human mind came to an end in them. In them humanity stood on the brink of the revelation of a great secret.'

मेरे कहने का अभिप्राय यह है हमारे कवियों को हमारे समाज ने कोई ऐसे नये विचार या ऐसी नई भावनाएं नहीं दी जिन पर वे किसी नवीन सजीव और विश्वव्यापक प्रभाव शाली रचना करते। जिस अनिश्चित सन्तोष के साथ हम अपने जीर्णशीर्ण धार्मिक विश्वासों और संकीर्ण सामाजिक संस्कारों में जीवन घसीटते आए हैं, उसी शिथिलता के साथ हमारे कवियों ने प्राचीन काव्य शास्त्र की रीतियों में दृष्टि विहीन श्रद्धा के साथ अपनी निर्जीव रचनाएं की है। जिस हिचक के साथ आपने नए विचारों और सुधारों को ग्रहण किया उसी झिझक के साथ उन्हांने नए विषयों और नई शैलियों का हाथ पकड़ा। हमारी अर्द्धशिक्षिता महिलाओं के घूँघट की तरह हमारा नायिका और नख-शिख वर्णन हमारा पीछा नहीं छोड़ता। काले काले मोज़ों पर कड़े छड़े की छमछमाहट की तरह अभी तक ब्रजभाषा हमारे हृदयों को हुलसाती ही जाती है। हमारी ग्रेजुएट् महिलाओं के पेटीकोट पर काञ्चन मेखला की तरह अथवा बी० ए० उपाधिधारी-कवियों के नयनों में चश्मों के भीतर श्याम सुरमे की तरह राधा की मञ्जुल मूर्ति हमारे वचनों में अब भी बसी हुई है। हमारा अतीत

का आवश्यकता से अधिक मोह अब तक नहीं गया। वर्तमान की विडम्बना अभी तक हम पर प्रगट नहीं हुई। भविष्य का सुस्पष्ट चित्र अब तक हमारी कल्पना में नहीं आया। इन कठिनायों का एक सघन कानन है जिसमें हमारे श्रद्धेय कवियों ने पगडण्डियां बनाई हैं। अब उसमें राजपथ निकालना हमारा काम है। उन्होंने हमारी बहुत सी उलझनें सुलझा दी हैं। छोटे मोटे नए विचार भी दे दिये हैं; समय की प्रगति और अपनी कल्पना से हम उनकी वृद्धि कर सकते हैं। उन्होंने अनेक प्रकार की शैलियों के द्वार खोल दिये हैं। भाषा की उलझन भी मिटा दी है। खड़ी बोली की विजयभेरी बज चुकी है, द्वन्द्व समाप्त हो गया। खड़ी बोली के स्वाधीन और सहनशील राज्य में ब्रजभाषा की मधुर वीणा बजाने वाले कवि केवल शोभायमान अपवाद हैं। साहित्य सेवी संसार ने खड़ी बोली की व्यापकता और आधुनिक उपयोगिता समझ ली है। हर्ष की बात है कि नई सन्तान को कुछ प्रतिभाओं का चमत्कार दीखने लगा है। आसार काफ़ी अच्छे हैं, आगे राष्ट्रभाषा हिन्दी का भाग्य।

नोट—हिन्दी काव्य गगन के नवीन और उदीयमान सितारों का ज़िक्र मैं किसी दूसरे निबन्ध में करूँगा। इस निबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी में छायावाद' हो सकता है।

मैथिली शरण गुप्त और उनका काव्य

(लेखक:—कुँवरकृष्ण बी० ए०)

"साहित्य मानव जीवन का एक चित्र है। उसका और मानव जीवन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी ग्रंथ को काव्य का पद इसीलिए प्राप्त होता है कि उसके पढ़ने से जीवन के साथ हमारा एक घनिष्ठ और नवीन सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है और यही कारण है कि काव्य मनुष्य के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव डालता है।" उस नवीन सम्बन्ध के कारण हमारे सामने प्रकृति के बाह्य तथा अंतर्जगत के द्वार खुल जाते हैं और यह तीव्र वेग से हमारी मानसिक प्रवृत्तियों को उस मंदिर की ओर ले जाता है जो चिन्ता एवं आनन्द, प्रेम तथा घृणा, हर्ष एवं विषाद का केंद्र है; जो अनन्त की भावनाओं तथा स्वर्गीय इच्छाओं का उद्गम है और जहां से मनुष्य के विचार एक नदी का रूप धारण कर देश देशान्तर में प्रवाहित होते रहते हैं। इन्हीं विचारों के द्वारा नवीन साहित्य की सृष्टि होती है। प्राचीन तथा नवीन साहित्य का यह सम्बन्ध सदा स्थिर रहता है। उस क्रमात्मक सम्बन्ध को स्थायी करने के लिए सदा अवलम्बन की आवश्यकता होती है, और यह आधार हमारे सामने लेखक के रूप में प्रस्तुत होता है। इससे यह कदापि न समझ लेना चाहिये कि कवि का कार्य केवल अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य ग्रंथों के आधार पर ही

कविता करना होता है, उसका यह कार्य्य तो केवल गौण ही है। निजी कर्तव्य उसका यह है कि वह अपनी मौलिक शक्ति का सदुपयोग करे और अपनी अनुपम, सरस एवं हृदयग्राही काव्य पुष्पाञ्जलि संसार को समर्पित कर विश्व-कवि की संज्ञा को प्राप्त हो और इस प्रकार सदा के लिए अमरत्व प्राप्त कर ले। यद्यपि अंतर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले महाकवि अल्प संख्या में ही भगवती वसुन्धरा पर जन्म लेते हैं, परन्तु ऐसे कवि तो प्रायः प्रत्येक देश में होते हैं जिनकी मधुर वाणी से समयानुकूल ज्ञान तथा काव्य-धारा प्रधावित होती है; जिनकी ओजस्विनी रचनायें म्रियमाण जनता पर संजीवनी बूटी की तरह अपना प्रभाव डालती हैं और जिनकी हृदय वीणा से निकली हुई गीत-ध्वनि मृतप्राय जाति के कर्ण कुहरों में प्रवेश कर उसमें नव-जीवन तथा नवीन शक्ति का संचार अवश्य कर देती है। उस देश तथा जाति के ऐसे कवि उसके गौरव रूप के होते हैं और वह ऐसे कवि को पाकर फूली नहीं समाती। हमारे मैथिली शरण भी ऐसे ही कवियों में हैं।

गुप्त जी का जन्म चिरगांव—झाँसी में सं १९४३ वि० में एक प्रसिद्ध परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सेठ श्री राम-चरण जी था। वे भी कवि और कविता के प्रेमी थे। इस समय उनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन न कर हम केवल उसी काल तक अपनी दृष्टि को परिमित रखेंगे जब से उनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ होता है।

गुप्त जी ने किस अवस्था से कविता करना प्रारम्भ किया इसका हमें विशेष ज्ञान नहीं है, परन्तु इतना हम अवश्य कह सकते है कि गुप्त जी की रचनायें आरम्भ से ही हिन्दी साहित्य की मुख्य पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थीं। गुप्त जी की कविताओं का 'सरस्वती' जैसी उत्कृष्ट पत्रिका में छपना ही उनके उत्तम होने का प्रचुर प्रमाण है। कई वर्षों तक गुप्त जी की फुटकर कवितायें पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। हिन्दी-साहित्य के महारथियों विशेषतः पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्य-उपासकों से गुप्त जी को जो प्रोत्साहन मिला उसके वह पूर्णतया अधिकारी थे और हिन्दी साहित्य सेवियों का इसका गर्व है कि उनकी आशायें निष्फल नहीं हुई। गुप्त जी भी अधिकाधिक उत्साह से अपने शुभ कार्य्य में संलग्न हो गये और यथाशक्ति हिन्दी भाषा की सेवा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि गुप्त जी के विचार, उनकी भाषा, और उनकी रचना शैली दिन प्रतिदिन प्रगल्भ, परिमार्जित एवं चित्ताकर्षक होती गई। हमारे सामने इस समय उनकी आरम्भिक कवितायें नहीं है अन्यथा यथाशक्ति हम आपको गुप्त जी के मस्तिष्क इत्यादि के विकास का क्रम दिग्दर्शन कराते और अपने कथन की पुष्टि का प्रमाण देते, परन्तु इतना हम विश्वास दिलाते हैं कि गुप्त जी की शब्द योजना एवं भाव प्रदर्शनात्मक शक्ति में ह्रास के चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं हुए। सं १९६६ वि० तक गुप्त जी की कविताओं में भाव-प्रदर्शन उदय हुआ था, इसका अनुमान उस समय की लिखी हुई कविताओं के

पढ़ने से पाठक स्वयं लगा सकते हैं। सं० १९६७ के लगभग गुप्त जी ने एक कविता 'पूर्व दर्शन' के नाम से लिखी। इस कविता के पश्चात् ही गुप्त जी की काव्य प्रभा का ज्ञान हिन्दी जनता को हुआ था। उक्त कविता को देखकर पाठकों ने भी लेखक के साथ यह सोचा था कि अवश्य कभी न कभी यह कविता "पल्लवित" होकर हिन्दी का मुख उज्ज्वल करेगी और लेखक की कीर्त्ति-पताका को उड़ायेगी।

वास्तव में हुआ भी वैसा ही। राम नवमी सं० १९६९ को उस पवित्र दुस्सह कार्य्य का श्री गणेश हुआ और अच्छा हुआ। यह वह दिवस था जब खड़ी बोली के अद्वितीय काव्य 'भारत-भारती' का सूत्रपात हुआ था। भारत-भारती पर अपनी सम्मति प्रकट करने से पूर्व हम कुछ पंक्तियों में उस समय की देश तथा साहित्य की अवस्था का वर्णन करना परमावश्यक समझते हैं। यह वह समय था जब ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के विषय में इनके अनन्य उपासक अपने प्रतिद्वन्दियों के प्रति तीव्र से तीव्र शब्दों का प्रयोग करना अपना धर्म समझते थे; जब अधिकतर यही ध्वनि सुनाई दे रही थी कि खड़ी बोली में लिखने वाला कवि अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त ही नहीं कर सकता, ऐसी दशा में कवि को खड़ी बोली में किसी अन्य काव्य ग्रंथ के न होने के कारण उसी भाषा में काव्य लिखने में क्या कठिनाइयाँ थीं, इसका अनुमान विचार शील स्वयं कर सकते हैं। केवल साहित्य में ही यह आन्दोलन नहीं मच रहा था वरन् भारत के भिन्न भिन्न स्थानों से स्वराज्य

और होमरूल की आवाज़ भी कानों में गूंज रही थी। देशवासियों को स्वदेश-प्रेम का पाठ पढ़ाया जाने लगा था और उत्सुक जनता इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि शीघ्र ही कोई कवि देश-गान करे और उनकी पियास को शान्त कर दे। इधर तो यह हाल था, और उधर देश प्रेमी लेखक भारत सरकार की कोपाग्नि का आधार हो रहे थे और ऐसी कविताओं को बड़े चाव से पढ़ने और संग्रह करने वाले युवक क्रांतिवादी शब्द से संबोधित किए जाते थे। देश एवं साहित्य की ऐसी ही परिस्थिति में हिन्दी साहित्याकाश में भारत-भारती का अभ्युदय हुआ था। फिर क्या था? सबने लेखक के स्वर में स्वर मिलाकर कहा था—

"भगवान भारत-वर्ष में गूँजे हमारी भारती"

उस समय हिन्दी जानने वाला ऐसा विरला ही मनुष्य होगा जिसने भारत-भारती को कम से कम एक बार आद्योपान्त न पढ़ा हो; कौनसा ऐसा पाषाण-हृदयी होगा जो अतीत खंड को पढ़ कर—एक बार अपने पूर्वभारत का ध्यान कर—गर्वोन्मत्त न हो उठा हो और अपने पूर्वजों की वीर गाथायें सुन कर उसके मुँह से सहसा यह न निकल पड़ा हो कि—

"मोहे विदेशी वीर भी जिस वीरता के गान से,
जिस पर बने हैं ग्रंथ 'रासो' और 'राजस्थान' से।
थी उष्णता वह बस हमारे शेष शोणित की अहा!
जो था महाभारत समर में नष्ट होते बच रहा॥"

'भारत-भारती' की आलोचना करते समय हमें इस बात को भी ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है कि उक्त पुस्तक केवल एक ऐतिहासिक काव्य है जिसमें कवि का उद्देश्य अपना पांडित्य-प्रकाशन नहीं है वरन् देश की भूत एवं वर्त्तमान दशा का चित्र खींचकर और आधुनिक अवस्था का ज्ञान कराकर भविष्यत् में उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन देना है। लेखक ने प्रस्तावना में लिखा है—"संसार में ऐसा कोई भी काम नहीं जो समयोचित उद्योग से सिद्ध न हो सके, परन्तु उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता है। बिना उत्साह के उद्योग नहीं हो सकता। इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को, उत्तेजित करने के लिए कविता एक उत्तम साधन है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिन्दी में अभी तक इस ढंग की कोई कविता की पुस्तक नहीं लिखी गई जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी। यह सोचकर कि बिल्कुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया।"

पुस्तक को पढ़ने पर हम सुगमता पूर्वक कह सकते हैं कि लेखक ने प्रत्येक पंक्ति में अपने उद्देश्य का ध्यान रखा है। कदाचित यही कारण है कि 'भारत भारती' की ख्याति आजकल वैसी नहीं है जैसी किसी समय थी। हम यह भी मानने के लिए प्रस्तुत हैं कि पाठकों को उसमें केवल वर्णनात्मक कविता (Descriptive Poetry) ही का सब जगह आभास मिलेगा,

उसमें मानव चरित्र के गूढ़ रहस्यों तथा कवि हृदय की उन कोमल कल्पनाओं की, जो सहज ही में पाठकों का मन अपनी ओर खींच लेती हैं, अवश्य कमी है, परन्तु फिर भी उसमें जो कुछ है उसे पढ़ते पढ़ते हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से उछलने लगता है। हम मानते हैं कि उसमें पाठकों की रुचि के अनुसार वह रस-वैचित्र्य नहीं है। इसी के कारण भावनाओं और उद्गारों के उपासकों को "भारत-भारती" पढ़कर हताश होना पड़ता है, परन्तु कवि के काव्य में सर्वत्र अपने विचारों का प्रतिबिम्ब देखने की इच्छा रखना हमारी समझ में कोई बुद्धिमत्ता का कार्य्य नहीं। हमें देखना यह है कि जिस आदर्श को सामने रखकर कवि रचना करने बैठा है उसमें वह सफल हुआ है अथवा नहीं और यदि हुआ है तो कहाँ तक?—

अपने मत के प्रतिपादन करने की शैली को हृदय-ग्राही बनाना लेखक की प्रचुर बुद्धिमत्ता का चिन्ह अवश्य है, परन्तु आदर्श के सामने इसका महत्व इतना अधिक नहीं हो सकता जितना प्रस्तुत विषय का। अस्तु, सफलता के विषय में इतना हम अवश्य कहेंगे कि गुप्त जी ने जिस 'उत्साह' को उत्तेजित करने के लिए अपनी लेखनी उठाई थी उस में वे अवश्य सफल हुए हैं। थोड़ी सी हिन्दी जानने वाला सुगमता से उनके भावों को हृदयंगम कर सकता है और अपने देश की अतीतावस्था से वर्त्तमान का मिलान करने पर विषाद से अवसन्न एवं आशा से प्रफुल्लित हो कर यह कह सकता है कि यद्यपि—

"उत्थान के पीछे पतन सम्भव सदा है सर्वथा,
प्रौढ़त्व के पीछे स्वयं वृद्धत्व होता है यथा।
हा! किन्तु अवनति भी हमारी है समुन्नति सी बड़ी,
जैसी बढ़ी थी पूर्णिमा वैसी अमावस्या पड़ी॥

परन्तु—

"सौ सौ निराशायें रहें, विश्वास यह दृढ मूल है,
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायेंगे,
वे दिन यहां फिर आयेंगे, फिर आयेंगे, फिर आयेंगे॥"

जहां भी देखिये कवि का हृदय उमड़ा पड़ता है। उसके हृदय में देश के लिए कितना प्रेम है, उसके प्रति कितनी भक्ति है; मातृ-भूमि के ऊपर उसे कितना गर्व है, यह इस छोटे से पद से ही प्रतीत हो जायगा। कवि लिखता है—

"जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का।
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का॥
जो कोकिला नंदन विपिन में प्रेम से गाती रही,
दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही॥"

इन पंक्तियों में कितनी विदग्धता है, कितना रोना है इसका वर्णन करने में हम सर्वथा असमर्थ हैं। यद्यपि हम जानते हैं कि हमारी कलंक-कालिमा त्रिवेणी के समस्त जल से भी धुल नहीं सकती परन्तु फिर भी अपने हृदय को शान्त करने के लिए एक दो आंसू तो कवि के साथ हम अवश्य ही बहा लेते हैं।

यदि उच्च स्वर से रुदन, यदि आन्तरिक मर्म-भेदी कातरोक्ति, यदि भयशून्य तेजोमय सत्यता देश-वात्सल्य का लक्षण है तो वह देश-वात्सल्य मैथिली बाबू में और उसके अनेक लक्षण उनके काव्य में विद्यमान हैं। यदि देश भाइयों के साथ हँसना और अछूतों के साथ मार्मिक समवेदना प्रकट करना भारतीयता का आदि चिन्ह है तो मैथिली बाबू की पुस्तक में ये चिन्ह अवश्य पाये जाते हैं। अधिक न कह कर हम केवल इतनी ही प्रार्थना करते है कि "हे भारत!

"जग जायें तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो"

अब मैथिली बाबू का दूसरा ग्रंथ "पंचवटी" लीजिये।

इसमें भी गुप्त जी ने कोई पुराने फूलों की माला नहीं बनाई है, अथवा नए फूलों को पुराने सूत्र में नहीं गूँथा है। उसका अवलंब कवि का अपना हृदय एवं अपनी ही कल्पना है। जिन्होंने इस पुस्तक को स्वयं पढ़ा है वे हमारी इस सम्मति से अवश्य ही सहमत होंगे। पंचवटी में १२७ पद्य हैं। भाषा खड़ी बोली है ही। जैसा नाम से पता चलता है, इसमें पंचवटी के ऊपर कोई कविता नहीं की गई है। परन्तु कवि ने पंचवटी में वास करते हुए सौमित्रिदेव के चरित्र को अपनी कल्पना के अनुसार अंकित किया है। यों तो लक्ष्मण का चरित्र हमें रामायण इत्यादि कई पुस्तकों में मिलता है, परन्तु "पंचवटी" में चित्रित चरित्र में कुछ विशेषता है। इसमें पाठकों के आमोद प्रमोद की पर्य्याप्त सामग्री प्रस्तुत है। देवर और भाभी के व्यंगपूर्ण

वाक्य आधुनिक गृहस्थ-जीवन की याद दिलाते हैं; अनुपम रूपधारिणी शूर्पणखा के वचन पाठकों को प्रेमिका के उद्विग्न चित्त का पूरा पूरा दिग्दर्शन करा देते हैं; और लक्ष्मण के मुख से निकले हुए स्वगत शब्द अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए घर से निकल खड़े होने वाले भारतीय-सभ्यता में पले हुए भाई के आदर्श शब्दों का स्मरण कराते हैं। सीतादेवी के कहने पर

"………ये पिता की
आज्ञा से सब छोड़ चले।
पर देवर, तुम त्यागी बनकर,
क्यों घर से मुँह मोड़ चले?"

लक्ष्मण का यह उत्तर सुनकर

"………आर्य्ये!, बरबस
बना दो मुझको त्यागी।
आर्य चरण-सेवा में समझो
मुझको भी अपना भागी॥"

कौन ऐसा हृदय होगा जो गर्व से फूल न उठे और जिसके मुख से सहसा यह न निकल पड़े कि "धन्य हो लक्ष्मण! तुम धन्य हो!!" कहने का सारांश यह है कि लक्ष्मण के चरित्र का चित्रण करने में कवि ने मानव-हृदय की भीतरी दशा का अच्छा दृश्य खींचा है। बाह्य प्रकृति का वर्णन तो प्रायः सभी कवि कर लेते हैं परन्तु महा कवि वही है जो अन्तर्जगत के रहस्य को खोज कर उसकी जीती जागती प्रतिमूर्ति पाठकों के सामने

उपस्थित कर दे। कवि का कर्तव्य यह है कि वह मानव हृदय में होने वाले अतुल संघर्ष की भिन्न भिन्न परिस्थितियों को एकत्रित कर दे, और फिर पाठकों के ऊपर यह भार रख दे कि वे स्वयं कल्पना करें कि "अब क्या होगा ! क्या होने वाला है !!" यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। लक्ष्मण बैठे हुए हैं सुन्दरी शूर्पणखा सामने खड़ी है। आप इस समय रावण की बहिन शूर्पणखा का ध्यान न करें वरन् उस प्रेमोन्मत्ता सुन्दरी शूर्पणखा का ध्यान करें जो अपने प्रेम के प्रतिदान की भिक्षा माँगने के लिए अपने प्रेमपात्र के सामने खड़ी हो। कामिनी की भिक्षा और लक्ष्मण की चिंता; कैसा अपूर्व दृश्य है! सामने एक स्त्री प्रेम-दान माँग रही है, पास ही बैठे हुए अन्यमनस्क लक्ष्मण पुरुषों की निर्ममता की साक्षी दे रहे हैं। वह कहते हैं—

"माता, पिता और पत्नी की, धन की धाम-धरा की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी जीवन-परम्परा की भी।
एक—किन्तु उन बातों से क्या, फिर भी हूँ मैं परम सुखी;
ममता तो महिलाओं में ही होती है, हे मंजुमुखी!"

कहते कहते वे 'एक' शब्द के पश्चात रुक जाते हैं और फिर थोड़ी देर के पश्चात कुछ और कहने लगते हैं। यहाँ पर स्पष्ट है कि वे जो कुछ चाहते हैं उसे न कह कर कुछ और ही कह गए। आप स्वयं कल्पना कर लें कि ऐसा कहते हुए उनके हृदय में क्या भाव भरे थे! कौन कह सकता है कि उस समय उन्हें उसी प्रणयिनी का ध्यान न आया हो जिसने उसी घर में

पातिव्रत की शिक्षा पाई थी, जिसमें सती सीता ने शिक्षा ग्रहण की थी। कौन जानता है कि उनके मस्तिष्क में क्रीड़ा करने वाली अभागिनी उर्मिला हो जिसके प्रति सभी कवियों ने अपनी उदासीनता प्रकट की है, जिसने अपने पति को सहर्ष वन जाने की सम्मति देकर अपने अनुपम स्वार्थ-त्याग का परिचय दिया था, और जो शूर्पणखा के प्रस्ताव पर सम्मत हो जाने पर भी कदाचित् लक्ष्मण के प्रति "वे सर्वस्व हमारे भी हैं, यही ध्यान में लाती।"

"पंचवटी" में हमें कवि-कल्पना का समुचित आभास मिलता है। प्रमदा ने स्वयं ही अपना मन लक्ष्मण को अर्पण किया था। लक्ष्मण ने मोह को यदि झूठा कहा तो इसमें आश्चर्य ही क्या। इस विषय पर सुन्दरी के ये शब्द—

"कह सकते हो तुम कि चन्द्र का कौन दोष जो ठगा चकोर?
किन्तु कलाधर ने डाला है किरण-जाल क्यों उसकी ओर?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो जलता कैसे क्रुद पतङ्ग?
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या व्याध पकड़ता नहीं कुरङ्ग?

कितने उपयुक्त एवं हृदयस्पर्शी हैं। इनके अन्दर कितनी तीव्र मनोव्यथा है इसका अनुमान सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। मोह ईर्ष्या का भाव नहीं है जिससे अहित-चिन्ता की अवधारणा होती है; यह प्रीति का भाव नहीं है जिसमें रक्त की तृष्णा होती है; यह स्वयं अपने आपको जलाने वाली आग है; यह वह क्रोध है जो अपने ही को जलाता है, जो अपने ही दाँतों से अपने को काटता है। यह वह उठती हुई लहर है जो टीलों को नहीं तोड़

सकती पर तटों को जलमग्न कर चली जाती है। यह इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि इच्छा और प्रेम में कितना भेद है। इच्छा अपनी ओर खींचती है, और प्रेम स्वयं खिंच जाता है, इच्छा में ममत्व है, और प्रेम में आत्म-समर्पण। उर्दू वाले तो कदाचित इस समय यही कहते हैं कि जब 'प्रेमिका' अनुकूल है और मदिरा हाथ में तो फिर इंतज़ार किस बात का। परन्तु आर्य-सभ्यता भिन्न है, फिर संसार के सोने के समय में भी पंचवटी में पहरा देने वाला वीर, धीर, निर्भीक-मना, धनुर्धर किस प्रकार शूर्पणखा के प्रस्ताव को स्वीकृत करता। उसे तो यह कहना ही उचित था कि—

" पर मैं ही यदि परनारी से पहले सम्भाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित् पुरुषों की सुधर्म्मपरता।"

कहाँ तक लिखें, यदि देखा जावे तो प्रत्येक पद में अनोखे भाव भरे हुए हैं जिनको प्रदर्शित करने के लिए समय चाहिए।

"रंग में भंग" 'जयद्रथ-वध' एवं 'किसान' इत्यादि मौलिक रचनाओं को छोड़ कर हम उनकी नवीन पुस्तक 'हिन्दू' के विषय में फरवरी मास के Modern Review में प्रकाशित हिंदी के धुरंधर विद्वान और सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत काशी प्रसाद (K. P.) जी जयसवाल की सम्मति यहाँ उद्धृत करते हैं।

'Mr. Maithili Saran Gupta is the premier Hindi-poet, yet below 44. Maithili Saran has already carved out a niche for himself in the gallery of the poets of

India. In this little book he has surpassed even his former compositions. Selecting a metre so popular in Hindi as to be known by every woman, child and rustic इरांगा which is familiar from its age-long recitation in the early morning by a class of Brahmin beggars called singers of Sravan's life. The poet has composed short poems on various petriotic and social topica. He employs the spoken language and a style of which he is practically the father. The orthodox. Hindu will read in the lines of "Hindu" "हिन्दू" his own self, while the radical Arya Samajist will feel reading the poems that Maithili Saran is fast becoming a Gurukul reformer. His sentiments are traditional yet reforming, rightly full of fire and love for this land of Rama and Krishna, Budha and Kapil, Gandhi and Ravindranath.

इससे अच्छा प्रमाण पत्र मैथिली शरण जी को और कौनसा मिल सकता है !

अतएव अब गुप्त जी की मौलिक रचनाओं को छोड़ कर यहाँ पर उनके अनुवादित ग्रंथों पर विचार किया जाता है। गुप्त जी के अनुवादित ग्रंथों की संख्या काफी है, परन्तु सब का उल्लेख न कर हम यहाँ केवल उनके बंगला से अनुवादित ग्रंथों

के विषय में ही कुछ कहेंगे। [अब तक गुप्त जी ने चार बंगला पुस्तकों का अनुवाद किया है।] वह अनुवाद कैसा हुआ है इसे वे पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं जिनको मूल एवं अनुवादित दोनों ग्रंथों के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। गद्य का अनुवाद तो सफलता पूर्वक हो भी जाता है, परन्तु पद्य का अनुवाद करना नितान्त कठिन है। जिस प्रकार मेघ का स्वच्छ जल पृथ्वी पर पड़ कर मलिन हो जाता है उसी प्रकार एक भाषा की कविता दूसरी भाषा में अनुवादित होने पर कान्ति-हीन हो जाती है। स्वयं रवीन्द्र बाबू भी जो बंगला एवं अंग्रेज़ी पर समान अधिकार रखते हैं अपने प्रयत्न में पूर्ण सफल नहीं हो सके। यह बात उनकी 'ताजमहल' के ऊपर लिखी कविता की तुलना उन्हीं के 'Hover's gift and crossing' में उस कविता का अंग्रेज़ी में अनुवाद से करने पर स्पष्ट हो जावेगी।

उदाहरणार्थः—

प्रेमेर करुन कोमलता

कुटिलता

सौन्दर्जेर पुष्प पुंजे, प्रशान्त पाताने।"

इसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

"The secret whispered in the hush of night to the ear of your love is wrought in the perpetual silence of stone."

अस्तु। हम यहां यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि मैथिली शरण जी ने जिन पुस्तकों का अनुवाद मातृभाषा को अर्पण किया है उनमें वह आवश्यकता से अधिक सफल हुए हैं। मूल बँगला एवं हिन्दी अनुवाद को सामने रखने से उपर्युक्त कथन की सत्यता का प्रमाण मिल जावेगा।

"पलाशिर युद्ध" के रचयिता बंग कवि श्री नवीनचन्द्र सेन अपने काव्य के दूसरे सर्ग में ब्रिटिश सेना के शिविर का वर्णन करते हैं—'ग्रीष्म का प्रचण्ड सूर्य अपने तीव्र अयुत करों से अग्नि वृष्टि कर द्रुमराजिशीश पर विश्राम लेने के लिए जा रहा है। शिविर के पास ही गंगा बह रही हैं। उस गंगा-जल में प्रतिबिम्बित अस्ताचल को ओर गमन करता हुआ सूर्य दिखाई दे रहा है—किस प्रकार—

> "शोभि छे एकाढि रवि पश्चिम गगने
> भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने।"

देखिये अनुवादक जी कितनी अच्छी भाषा में उक्त पंक्तियों का अनुवाद करते हैं—

> "शोभित दिन-मणि एक प्रतीची के अंचल में,
> सौ सौ दिनमणि झलक रही हैं गंगा-जल में।

यद्यपि यहां पर 'सहस्र' का अनुवाद "सौ सौ" हुआ है परन्तु इसका कारण अनुवादक की अल्पज्ञता नहीं वरन् हिन्दी मुहावरा है। देखना यह है कि कहीं भी बंगीय कवि के भावों में विकृतता नहीं आई है। जो ओज मूल बंगाली में है वही हिन्दी-

अनुवाद में भी है। अनुवादक ने न तो कोई शब्द अपनी ओर से इसमें बढ़ाया ही है और न किसी शब्द को बिना अनुवादित किये छोड़ा ही है। दूसरा उदाहरण लीजिए—पलासी के क्षेत्र में एक ओर खड़ा हुआ क्लाइव अपने भावी कार्य-क्रम को सोच रहा है। भिन्न भिन्न विचार उसके हृदय मंदिर में प्रवेश करते हैं। सहसा उसे प्रेमाकुल एक ब्रिटिश युवक का गीत सुनाई देता है।

वह गीत यों है:—

"प्रिय केरोलाइना आमार
जेइ प्रेम अश्रुराशि आजि अभागार
झरिते छे निरवधि
तरल ना हत जदि
गाँथिताम जेइ हार तव उपहार
किछार इहार—काछे गोलकंदा-हार।"

इसका अनुवाद गुप्त जी ने इस प्रकार किया है—

"मेरी केरोलीन प्यारी
प्रिये, आज इस दुर्विधि के जो प्रेम अश्रु ये भारी
अविरल आँखों से हैं बहते,
यदि न तरल होते, थिर रहते
तो इनसे जो हार गूंथ कर देता मैं उपहार
उसके निकट गोलकुंडा का हीर-हार क्या छार।"

यद्यपि इसमें एक दो शब्द अनुवादक को अपनी ओर से रखने पड़े हैं परन्तु ऐसा करने से उसने मूल लेखक के भावों

की ही भली भाँति रक्षा की है। कहीं भी बंगीय लेखक के भावों की अवहेलना नहीं की गई है। "पलासी के युद्ध" में अनुवादक को कहीं कहीं अपनी ओर से एक दो पंक्तियाँ भी जोड़ देनी पड़ी हैं; परन्तु उसने इन पंक्तियों को ब्रैकेट में रख दिया है। इसके लिए अनुवादक उत्तरदायी नहीं है वरन् उसने मातृभाषा की मर्य्यादा रखने के कारण ही इस विवशता का आश्रय दिया है।

माइकेल मधुसूदनदत्त प्रणीत "विरहिणी ब्रजाङ्गना" से एक उदाहरण देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

विरहिणी राधा अपने प्रणय-पात्र के वियोग में इधर उधर व्याकुल फिर रही है। जो वस्तु भी उसकी आँखों के सामने आती है उसी से वह अपने विरह का रोना रोने लगती है—पृथ्वी से भी वही वेदना है और पुष्प के सामने भी वही संगीत है। रोते रोते गोवर्द्धन पर चली जाती है। वहाँ पर अपने ही करुण क्रंदन की प्रतिध्वनि सुनकर वह प्रेम-विह्वल पगली गोपिकाओं की भाँति उसे संबोधित कर कहती है:—

"के तुमि श्यामेरे डाके राधा जथा डाके—
हाहाकार रवे ?
के तुमि कोन जुवति डाके ये विरले सति ?
अनाथा राधिका जथा डाके गो माधवे ?
अभय-हृदये तुमि कह आसी मोरे—
के न बाँधा ये जगते श्याम प्रेम डोरे ?

इसका अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

" कौन कौन, तुम हो युवती सी श्याम ! श्याम ! कर रहीं पुकार ;
करती है अनाथिनी राधा करके जैसे हाहाकार।
निर्भय होकर यहाँ विजन में कह जाओ मुझसे सब हाल,
किसे बाँधता नहीं जगत में श्याम-प्रेम-गुण महा विशाल ?

शब्द प्रति शब्द अथवा पंक्ति प्रति पंक्ति का अनुवाद देखने वालों को संभव है इस अनुवाद को पढ़कर कुछ हताश होना पड़े परन्तु कविता के उपासक इस कठिनाई का अनुमान स्वयं कर सकते हैं। किसी कवि की ओजस्विनी शैली को देखकर और उसकी भाषा में व्यक्त मधुर भावों का निरीक्षण कर सहृदयी को अपनी कल्पना को दबा देने में बड़े तपोबल की आवश्यकता है। उस समय तो यही डर रहता है कि कहीं अनुवादक किसी पद को पढ़कर अपनी ही विचार धारा में न बह जावे। मैथिली बाबू ने इस पद का अनुवाद करने में कितनी सफलता प्राप्त की है इसका अनुमान आप मूल से अनुवादित को मिलाने पर स्वयं ही कर लें। हमारी सम्मति में तो उन्हें सोलहो आने सफलता मिली है।

अब तक हमने गुप्त जी के गुणों ही का वर्णन किया है। उनके काव्य के दोषों को प्रकट न करने से हमें पक्षपाती कहलाने का भय है। अतएव अपनी इस आलोचना को पूर्ण करने के लिए हम यहाँ पर कुछ त्रुटियों के उल्लेख करने का साहस करते हैं। कोई भी प्राणी दोष-हीन नहीं है। ऐसी बात सिर्फ परमात्मा में

है और जब बहुत से लोग उसको भी दोषी बनाते हैं तो फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है।

"भारत भारती" के वर्त्तमान खंड में रईसों की दशा का चित्र खींचते हुए गुप्त जी लिखते हैं।

दो पैर जो पैदल चले, जाता अमीर नहीं गिना,
होती न सैर प्रदर्शिनी की भी यहां वाहन बिना।
इंगलैंड का युवराज तो सीखे कुली का काम भी,
पर काम क्या, आता नहीं लिखना यहां निजनाम भी॥

जातीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे;
क्या अर्थ आत्मत्याग का, वे जानते हैं क्या इसे?
सुख-दुःख जो कुछ है यहीं है, धर्म-कर्म अलीक है;
खाओ पिओ, मौजें करो, खेलो हँसो, सो ठीक है॥

भारत की ऐसी दशा का वर्णन हमें स्मरण होता है, स्वर्गीय भारतेन्दु जी ने भी किया है यह रईसों ही के मुँह से कहलाते हैं :—

उमरा को हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा,
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पे मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा,
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
[धोती भी पहने जब के कोई और पिन्हा दे]

सिजदे से गर बहिश्त मिले, दूर किजिये
दोज़ख ही सही सरका झुकाना नहीं अच्छा।
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या
ऐमीरे फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा।

दोनों कवियों ने एक ही बात का वर्णन किया है। भाषा अवश्य भिन्न भिन्न कही जा सकती है। दोनों का उद्देश्य एक ही है:—आधुनिक धनवानों की अकर्मण्यता एवं आलस्य का वर्णन कर उनके प्रति घृणा का भाव प्रदर्शन करना। परन्तु कौन अपने उद्योग में अधिक सफल हुआ है इसे पाठक स्वयं देख सकते हैं। गुप्त जी की भाषा सीधी सादी है परन्तु वह पाठकों को अपनी ओर खींचने में बिल्कुल असमर्थ है।

दूसरा उदाहरण लीजिये—

पंचवटी में जहां पर उन्होंने आधुनिक कुरीतियों पर प्रकाश डाला है और अछूतोद्धार एवं स्त्री जाति की श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रकट किये हैं वहां पर उन्होंने कुछ प्रशंसा के विपरीत भी कह डाला है। लक्ष्मण कहते हैं।

अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निराती
जब वे अपनी खेती हैं।
पाती है तब कितना गौरव
कितना सुख कितना संतोष।

स्वावलंब की एक झलक पर
न्यौछावर कुबेर का कोष।

हमें स्मरण नहीं आता कि हमने कहीं और स्थान पर सीता के इस दृश्य का वर्णन देखा है। हमारे विचार में यह कवि की अपनी ही कल्पना है। कदाचित सीता देवी के प्रति गुप्त जी की जो भक्ति है उसी के आवेग में आकर वह ऐसा लिख गये हैं। स्थान एवं काल का ध्यान हृदयोद्गारों में विलीन हो गया जान पड़ता है। इन पंक्तियों में उस ग्राम्य जीवन का आभास अवश्य मिलता है जिस पर कोई भी भारतवासी गर्व कर सकता है और जिसके गुप्त जी स्वयं बड़े प्रेमी हैं, परन्तु सीता देवी के लिए लक्ष्मण के ऐसा कहने में हमें ग्रामीणता ही दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि पंचवटी में सीता का क्या कार्य्य-क्रम था, उनकी दिनचर्य्या क्या थी इसका हमें ज्ञान नहीं है, परन्तु इतनी कल्पना हम अवश्य कर सकते हैं कि उनके जीवन में इस बात का तो इतना महत्व न होगा जितना कि कवि ने इस समय उसे दिया है—

एक अन्य स्थान पर लक्ष्मण के कहने पर

"मैं पुरुषार्थ-पक्षपाती हूँ"
इसको सभी जानते हैं"

सीता का यह उत्तर

"रहो रहो, पुरुषार्थ यही है,
पत्नी तक न साथ लाये।"

हमें बहुत खटकता है। कोई भी आत्माभिमानी ऐसे शब्द सुन कर अपने को वश में रख सकता है इसमें कम से कम हमें तो बहुत सन्देह है। सीता के उत्तर से हमारी समझ में तो यह देवर और भाभी का कोई आदर्श व्यंग्य नहीं है—

स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है कि लक्ष्मण केवल इसी डर से अपनी पत्नी को वन में साथ न लाए कि ऐसा करने से कदाचित वह अपने सेवा-पथ से भ्रष्ट हो जाते और इस प्रकार दूसरों की नज़रों में गिर जाते। हमारी समझ में तो यह कवि की केवल अनधिकार चेष्टा ही है—

यदि इसी प्रकार हृदय हृदय के घात प्रति घात का वर्णन किया जावे तो हमें विश्वास है कि इस निबंध का कलेवर कम से कम दूना तो अवश्य ही हो जायगा अतएव अधिक न कह कर हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

उपसंहार में हम आपसे बस एक बात कहने की ही धृष्टता करते हैं। जिस समय आदि कवि ने कविता का राग सुनाया था उस समय उन्हें दूसरे का अनुकरण नहीं करना पड़ा, जिस समय होमर ने वीर रस मग्न होकर वज्र-गम्भीर स्वर Iliad का गान किया था उस समय उन्हें किसी अन्य कंठकर का अनुसरण नहीं करना पड़ा किन्तु नूतन कवियों के भाग्य में यह बात नहीं है। प्रकृति की गोद में रह कर वे जितना सीखते हैं उसकी अपेक्षा पुरातन कवियों में रह कर उन्हें अधिक सीखना पड़ता है अतएव वे अनुकरण-कारी हैं ही। मैथिली बाबू भी इसके अपवाद स्वरूप नहीं हैं, यदि

आप उनका यथार्थ परिचय चाहते हैं तो स्वयं उनके काव्यों को आद्योपान्त पढ़ डालिए। हमारी हिन्दी भाषा उनसे अलंकृत हुई है अतएव हम उन पर प्रेम करते हैं और जिन पर प्रेम करते हैं, उनसे अभी भविष्य में अधिक आशायें भी करते हैं।

हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद का स्थान

[लेखक:—सूर्य्य वर्म्मा बी० ए०]

भाषा-विज्ञान-विशारदों का कथन है कि प्रत्येक भाषा के साहित्य में पद्य का नम्बर गद्य के पहले आता है। हिंदी साहित्य में भी हमें पहले पद्य ही दृष्टिगोचर होता है। गद्य का विकास तो अंग्रेज़ों के आने के बाद से उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है। अन्य साहित्यों की तरह हिन्दी में भी क़िस्से कहानियां पहले पद्य में ही लिखी गईं; परन्तु ज्यों ज्यों गद्य का विकास हुआ त्यों त्यों इनकी संख्या बढ़ती गई। पद्य में आख्यानक काव्य को जन्म देने वाले मुसलमान सूफी थे, जिन्होंने सीधी सादी जनता की भाषा में क़िस्से कहानियों की आड़ में अथवा इनके साथ साथ अपने धर्म का प्रचार किया। बाद में इनकी देखा देखी कुछ हिन्दुओं ने भी आख्यानक काव्य लिखने में हाथ लगाया, परन्तु उन्हें इसमें आशातीत सफलता न मिल सकी। सर्व प्रथम इन आख्यानों का आधार उन दन्तकथाओं ही पर अवलंबित था जो कुछ अंशों में काल्पनिक थीं। परन्तु कवियों को दन्तकथाओं पर सदा अड़ा रहना अच्छा न लगा। उन्होंने अब अपने मस्तिष्क से काम लेना शुरू किया और समयानन्तर में वे अच्छे अच्छे आख्यानक लिखने में समर्थ हुए। खोज से उस समय हिन्दी में कुछ

२० आख्यानक काव्य उपलब्ध हैं जिनमें से आधे मुसलमानों के लिखे हुए हैं और आधे हिन्दुओं के। इन बीसो आख्यानक काव्यों में मृगावती, मधुमालती, पद्मावती, चित्रावली, और इन्द्रावली मुख्य हैं। मुसलमान लेखकों के विपरीत हिन्दू आख्यानक-लेखकों का ध्येय केवल साहित्यिक मनोरंजन था। उन्होंने अपने आख्यानों में धर्म की गंध तक न पैठने दी। फलतः उनके ग्रंथों में वह सजीवता और मधुरता न आने पाई जो मुसलमानों की रचनाओं में धार्मिकता की पुट आ जाने से। वे इससे अधिक गम्भीर भी हो गई हैं, परन्तु हिन्दुओं के ग्रंथों में यह गम्भीरता भी नहीं आसकी।

हिंदी के प्रारम्भिक काल में चारणों की वीर-गाथाओं का बोल बाला था। इस समय जब हम उनके ग्रंथों का अध्ययन करते हैं तो उसमें इतिहास की झलक तो कम दिखलाई देती है; परन्तु कवि की मनगढ़ंत बातें और घटनायें स्थान स्थान पर ढूँढ़ने से सहज ही में मिल जाती हैं। अतएव इन वीर-गाथाओं में सत्या-सत्य का निर्णय भली प्रकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह अवश्य है कि वे कवि मौलिक थे। उन्होंने ये गाथायें स्वयं अपने मन से सोच कर रख ली हैं। वीर गाथाओं के काल के अनन्तर हिन्दी में वह सुनहला काल आया जिसको तुलसी और सूर जैसे भक्तों ने सुशोभित किया है। इनकी रचनाओं को हम आख्यान कहते हुए सकुचाते हैं; परन्तु यदि राम और कृष्ण को हम ऐतिहासिक वीर न मानें और उन्हें ईश्वर का अंश न समझें, तो वे भी एक प्रकार की कहानियाँ ही रह जायँगी।

इन दोनों कालों के अन्त होने पर हिन्दी का शृङ्गारिक-काल सामने उपस्थित होता है। इस काल में आख्यानों का नाम-निशान ही मिट गया। कवियों को हाव-भाव, रस-रूप और अलङ्कारों के वर्णन से छुट्टी ही नहीं मिली कि वे आख्यानों के लिखने में अपनी कलम चलाते। समय तो उपयुक्त था, मुगल साम्राज्य की नींव पहले ही से तैयार हो चुकी थी और देश में सुख शान्ति विराजमान थी; परन्तु आख्यानों के लिखने की अब आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। मुस्लिम राज्य जब दृढ़ता पूर्वक कायम हो गया तो फिर मसनवियों की कौन ज़रूरत? दूसरे जब भारत में अंग्रेज़ों के आने और मरहठों के प्रबल होने से दिल्ली से मुसलमानी सल्तनत डगमगाने लगी तब इन सूफ़ी लेखकों का भी उत्साह ठंडा पड़ गया। इस प्रकार आख्यानों का लिखना-लिखाना बिल्कुल बंद हो गया।

सन् १८०० ई० से हमारे साहित्य का आधुनिक युग शुरू होता है। इस युग को वास्तव में गद्य का युग कहना चाहिए क्योंकि साहित्य से अब पद्य का धीरे धीरे लोप होने लगा और उसकी जगह बोल चाल की भाषा का प्रचार हुआ। लल्लू लाल जी ने अपने प्रेमसागर को उस समय लिखना शुरू किया था जब कि एक ओर कविता साहित्य से खसक रही थी और दूसरी ओर गद्य ने अपनी महत्ता को सब पर प्रकट कर दिया था। गद्य-पद्य दोनों का उनकी पुस्तक में जो मिश्रण है उसका प्रधान कारण यही है। लल्लू लाल जी के अतिरिक्त सदल मिश्र और

सैयद इंशा अल्ला खाँ भी वर्तमान हिन्दी-गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इन दोनों ने रानी केतकी की कहानी और नासिकेतोपा ख्यान लिखे। अतः तीनों लेखक एक प्रकार से आख्यायिका लेखक ही हैं। हिन्दी में इसी समय से आख्यायिका, गल्प या कहानी का लिखा जाना शुरू होता है।

आगे चलकर हम कथाओं को दो श्रेणियों में विभक्त पाते हैं। एक तो वे कथायें हैं जिन्हें अब हम कहानी या आख्यायिका कहते हैं और दूसरी वे जिन्हें उपन्यास कहते हैं। दोनों का आज कल ज़ोरों से प्रचार बढ़ रहा है और दोनों की हिन्दी साहित्य में बराबर उन्नति हो रही है। इस लोकप्रियता का कारण यह है कि मनुष्य को स्वभावतः अपने आसपास के लोगों के प्रति अनुराग होता है। अनुराग के साथ ही साथ उनमें पारस्परिक सहानुभूति भी होती है। सुख और दुख के समय एक दूसरे का वे साथ देते हैं। आख्यायिका और उपन्यास दोनों में मनुष्य के जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओं का जिक्र रहता है, दोनों में सुख दुख का विवेचन किया जाता है, परन्तु तो भी दोनों एक ही चीज़ नहीं हैं। दोनों में विशाल अंतर है। कहानी (गल्प) में जीवन के केवल एक पक्ष का प्रतिबिम्ब उपस्थित किया जाता है, किन्तु उपन्यास में जीवन की प्रत्येक घटना की विस्तृत समालोचना होती है। कहानी में आदि से अंत तक केवल एक भाव की प्रधानता रहती है परन्तु उपन्यास में समय समय पर भावों में परिवर्तन हुआ करता है। यही नहीं उसमें एक भाव कभी उच्च से उच्च

सीमा तक पहुँच जाता है और कभी वही भाव निम्न से निम्न सीमा तक गिर जाता है। उपन्यास में भावों का यह उत्थान-पतन सर्वत्र जारी रहता है। एक साधारण कविता और एक महाकाव्य में जिस श्रेणी का अन्तर होता है, वास्तव में उसी श्रेणी के अन्तर को कहानियों और उपन्यासों के मध्य में भी मानना चाहिए।

कहानी लेखक यदि कुशल हुआ तो वह एक भाव का प्रस्फुटन परोक्ष रीति से करेगा। प्रत्यक्ष करने से कहानी की उपयोगिता घट जाती है। कहानी को मनोरंजक बनाने के लिए एक बात की और आवश्यकता है और वह यह है कि उसमें साधारण बातों का ही ज़िक्र हो। यदि कहीं उसमें असाधारण कौतूहल पूर्ण बातों का समावेश किया गया तो उससे पाठक का विनोद चाहे कितना ही क्यों न बढ़ जाय परन्तु कहानी का भाव उसके हृदय पट पर कदापि अङ्कित न हो सकेगा। कौतूहल पूर्ण कहानियां पढ़ी जाकर शीघ्र ही भुला दी जाती हैं। परन्तु जिनमें किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रहती, उसका फल मनुष्य पर अधिक काल तक व्यापी होता है। कहानियों को निरर्थक घटनाओं से भरना उचित नहीं है। जहां तक हो सके उनको छोटी ही लिखनी चाहिए। जो कहानी जितनी छोटी होती है, उसका महत्व उतना ही अधिक होता है। यदि उसके साथ साथ विषय और शैली भी अनुकूल हुई तो फिर कहानी के मनोरंजक होने में संदेह ही नहीं रहता। प्रत्येक कहानी किसी न किसी उद्देश्य से लिखी जाती है। उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के साधन काम में

जाये जाते हैं। तब कहीं अन्त में उसका परिणाम दृष्टिगोचर होता है। कुशल लेखक की कहानी में इन तीनों— उद्देश्य, साधन और परिणाम की एकता होती है। यदि यह एकता न हो सकी तो फिर कहानी की उपयोगिता जाती रहती है। इस एकता के अभाव से ही कहानी कभी कभी अस्पष्ट हो जाती है। इसीलिए बहुत परिश्रम करने पर भी न तो उसका उद्देश्य ही ठीक ठीक समझ में आता है और न हम उसके परिणाम तक ही पहुँच सकते हैं। कौतूहल पूर्ण कहानियों के लिखने में जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, वे बहुधा अस्पष्ट ही होते हैं। अतः उनका स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है। वास्तव में वही कहानी अच्छी है जिसमें सुन्दर सुन्दर सरल शब्दों का व्यवहार किया गया हो और जिनको पढ़ने में स्मरणशक्ति को अधिक श्रम न करना पड़े। इसके बिना कहानी स्पष्ट नहीं हो सकती। कहानी में केवल उन्हीं घटनाओं का समावेश करना चाहिए जो कहानी को परिणाम तक पहुँचाने में सहायता देती हों। कभी कभी दो एक ऐसी बातें भी लिखी जाती हैं जो स्थल या समय विशेष के लिए ही उपयुक्त होती हैं परन्तु जिनके बाद में कोई आवश्यकता नहीं होती। कुशल लेखक इन बातों को ठीक ही अवसर पर याद करेगा, परन्तु याद करते ही उनको वहीं का वहीं छोड़ देगा। वे अब आगे नहीं बढ़ सकतीं। कहानी के भाव के प्रस्फुटन करने में भी ऐसी ही घटनाओं से सहायता ली जाती है, परन्तु स्मरण रहे कि प्रधान घटना से उनका संबंध छूटने न पावे, नहीं तो लाभ के

बजाय उनसे हानि पहुँचने ही की अधिक सम्भावना होगी। प्रधान घटना का विकास भी सीमित रहे तो अच्छा है। आवश्यकता से अधिक घट-बढ़ होने से कहानी में वह रोचकता नहीं आने पाती जिसके पाठक ग्राहक होते हैं। प्रत्येक कहानी में कोई न कोई शिक्षा ज़रूर मौजूद रहती है। किंतु उससे यह न समझना चाहिए कि वह उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में लिखा हो। उसके गुप्त रखने में ही आनन्द मिलता है।

इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की कहानियों को हिन्दी साहित्य में वही स्थान मिलना चाहिये जो बँगला में शरद् बाबू या रवीन्द्र बाबू को प्राप्त है। प्रेमचन्द की कहानियों के अब तक कई संग्रह निकल चुके हैं जिनमें 'समसरोज' और 'नवनिधि' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों में उद्देश्य, साधन और विषय की एकता रहती है, परिणाम वही रहता है जिसकी आशा की जाती है और शैली विषय के अनुकूल रहती है। विषय, और घटनाओं को देखते हुए तो कहना पड़ता है कि हिन्दी में कोई कहानी लेखक इनको नहीं पहुँच सका है। उनकी कहानियों में घटना और भाव का इतना उचित समावेश किया गया है कि यह जानना मुश्किल है कि वे घटना-प्रधान हैं। प्रेमचन्द तो बोल चाल की भाषा के मास्टर हैं। इनकी भाषा बड़ी चटकीली और लच्छेदार होती है। कहावतों और मुहावरों के व्यवहार में वे अत्यन्त कुशल हैं—'वही गुड़ खाय जो कान छिदावे'। 'लड़कियाँ हैं, वे घास फूस की तरह बढ़ती चली जाती है' 'मासिक

चेतन तो पूनो का चन्द हैं, आदि। इनकी लिखी हुई शायद ही कोई कहानी ऐसी मिले जिससे कोई न कोई शिक्षा न मिलती हो। 'परीक्षा' को ही लीजिए क्या उसकी शिक्षा स्पष्ट नहीं है ? यही तो है कि पढ़े लिखे लोगों को मेहनत वाले हाथ के काम से जी न चुराना चाहिए। कहानी में फ़ज़ूल बातें तो लिखना ये जानते ही नहीं। 'सज्जनता का दंड' शीर्षक वाली कहानी में सरदार साहब की पुत्री के विवाह का जो ज़िक्र आया है वह केवल इसीलिए कि दहेज़ की आवश्यकता के आगे सरदार साहब का मन चञ्चल हो और वे घूस लेने के लिए बाधित हो जायें। परन्तु ज्योंही उनकी आत्मा सजग हो जाती है वैसे ही दहेज देने और घूस लेने को वे पाप समझने लगते हैं। बस वहीं से इस विवाह के उल्लेख का अन्त हो जाता है और कहानी में आगे उससे कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रेमचन्द को छोड़ कर हिन्दी के अन्य कहानी लेखक 'सुदर्शन', 'कौशिक', 'ज्वालादत्त शर्मा', 'जयशङ्कर प्रसाद', 'राजेश्वर प्रसाद', 'नारायणसिंह', 'इलाचन्द्र जोशी' और 'विनोद शङ्कर व्यास' हैं। प्रेमचन्द से इन लोगों की तुलना करना व्यर्थ है। इनमें से कुछ तो अभी हाल के लेखक हैं जो प्रेमचन्द की पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। इन्हें अभी इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना बाकी है। राजेश्वर प्रसाद, नारायण सिंह, इलाचन्द्र जोशी और व्यास महाशय को उसी श्रेणी के अन्तर्गत समझना चाहिए। सुदर्शन का स्थान प्रेमचन्द के बाद ही है। इनकी कहानियों के दो संग्रह

इंडियन प्रेस, प्रयाग से अभी हाल में ही प्रकाशित हुए हैं। एक का नाम 'सुदर्शन सुधा' है। एक कहानी 'माता का प्यार' है इसको आदि से अंत तक पढ़ने से यही प्रकट होगा कि यह घटना-प्रधान आख्यायिका है। भाव की प्रधानता उसमें नहीं आने पाई। अन्य कहानियों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। सुदर्शन की भाषा प्रेमचन्द की भाषा से सरल तो अवश्य है, परन्तु उसमें वह मिठास, और वह लचक कहां, जो प्रेमचन्द की कहानी में एक सिरे से दूसरे सिरे तक दिखाई देती है। उदाहरण—

"बहता हुआ पानी थम गया, सतवन्ती सावधान हो कर सेवा करने लगी। उसने समझ लिया कि इस समय रोने से काम न चलेगा। लुटता हुआ जीवन बच सकता है तो केवल एक मात्र सेवा से। वह पति के सिरहाने बैठ गई और समय पर दवाई पिलाती गई। दिन बीत गया, परन्तु ज्वर न घटा, रात बीती, पर अन्तर न पड़ा। डाक्टर ने आ कर देखा और कहा—जिस बात का डर था वह हो गई। नेमोनिया बन गया है।"

(सुदर्शन)

"ऐसी ही घटना एक बार फिर हुई। पण्डित जी को बवासीर की शिकायत थी। लालमिर्च वे बिल्कुल न खाते थे। गोदावरी जब रसोई बनाती थी तब वह लाल मिर्च रसोई में जाती ही न थी। गोमती ने एक दिन दाल में मसाले के साथ थोड़ी सी लाल मिर्च डाल दी। पण्डित जी ने दाल कम खाई।

पर गोदावरी गोमती के पीछे पड़ गई। ऐंठ कर वह उससे बोली— ऐसी जीभ जल क्यों नहीं जाती!"

(प्रेमचन्द)

इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द बनारस के रहने वाले हैं जहां की भाषा की चाशनी स्वाद करते ही बनती है; इधर सुदर्शन पंजाब-वासी हैं जहां की भाषा लट्ठ मार होती है। स्मरण रहे कि दोनों लेखकों ने कहानी लिखना पहले उर्दू भाषा से ही प्रारम्भ किया है।

हिन्दी के तीसरे कहानी लेखक कौशिक हैं। आप की कहानियों में 'ताई' बड़ी प्रसिद्ध है। हिन्दु-समाज की छाप आपकी कहानियों पर अधिक पड़ती है। इधर इनकी कहानियों का कोई संग्रह हमारे देखने में नहीं आया है। जयशंकर प्रसाद हिन्दी के एक प्रसिद्ध 'आकाशी' (छायावादी) कवि और कुशल नाटककार हैं। आपने कुछ समय से हिन्दी में कहानियां लिखना भी शुरू कर दिया है। आपकी कहानियों में कौतूहल और विचित्रता अधिक होती है। आपकी कहानियों के पात्र साधारण लोग नहीं होते। उनके पात्रों का रहन-सहन, रीति-नीति विचक्षण होती है। वे लोग हिमालय की गुफा में, अथवा तिब्बत के रास्ते में अथवा मानसरोवर में निवास करते हैं और वे राजकुमार तथा राजकुमारी जैसा आदर्श प्रेममय जीवन स्वछन्द बसर करते हैं। आपकी कहानियों को एक तरह से परियों की कहानियां ही समझना चाहिए। ज्वालादत्त शर्मा हिन्दी के सब से पुराने कहानी-

लेखक हैं। आपकी कहानियों का विषय समाज-सुधार से सम्बन्ध रखता है। विधवा-विवाह, अंग्रेज़ी-शिक्षा का प्रभाव, पर्दा आदि जैसे विषयों पर आप कहानी लिखते हैं। आपकी कहानियों में भाव की कमी और घटना की प्रधानता तथा भाषा में जटिलता रहती है।

'आज सौभाग्यवती ने बिगड़ कर कहा—"आग लगे इन झगड़ों में। अब मैं अपने भाई के घर जाऊँगी। काम करते करते मरी जाती हूँ; न दिन को आराम, न रात को चैन। औलाद है, वह जलाये डाले हैं, घर का काम है वह सुखाये डाले हैं। तुम्हें किसी का क्या ध्यान। घर में आये, पकी पकाई खा ली और बस्ता बांध कर कचहरी चले गये या बैठक में जाकर मुहल्ले के निठल्लों को इकट्ठा कर लिया। परसों मेरे जाने का बन्दोबस्त कर दो।'

(ज्वालादत्त शर्मा)

कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद को जो सफलता मिली है उसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर आये हैं। अब यहां हम उनके उपन्यासों की जाँच कर हिन्दी साहित्य में उनका स्थान निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे। सब से पहले हमें यह देखना चाहिए कि उपन्यास कै प्रकार के हो सकते हैं। साधारणतया उपन्यास के तीन भेद किये जाते हैं (१) ऐतिहासिक उपन्यास (२) जासूसी उपन्यास (३) समयोपयोगी (Realistic)। उपन्यासों की यह श्रेणी घटनाओं के आधार पर की गई है। हिन्दी के ऐतिहासिक

उपन्यासों के अन्तर्गत पौराणिक उपन्यासों को भी समझना चाहिए। नागरी प्रचारिणी सभा ने ऐतिहासिक उपन्यासों के भी प्रकाशन में कुछ ध्यान दिया है। दो एक पौराणिक उपन्यास भी हमारे देखने में आये हैं। किशोरी लाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिखने में जो परिश्रम किया है उसकी सराहना नहीं की जा सकती। कुछ नहीं तो आपने कम से कम ७५ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे होंगे। आपका 'तारा' नामी उपन्यास पढ़ने ही योग्य हैं। इन उपन्यासों में अधिक संख्या अनुवादित ग्रंथों की ही है। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की ख़ूब धूम रही। हिन्दी में इससे बड़ा उपन्यास शायद ही कोई हो। बहुत से लोग जो हिन्दी के 'क ख ग' से भी परिचित नहीं थे वे चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी पढ़ गये। इस उपन्यास में ऐतिहासिक आधार लेकर तिलस्म और ऐयारी पूर्ण बातों को भर दिया गया है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण है। कुछ समय के बाद हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की भी चहल पहल रही। कलकत्ता के हिन्दी प्रकाशक इस क्षेत्र में कमर कस कर उतर पड़े। मौलिकता की ओर कम ध्यान दिया गया, परन्तु अनुवादों का तांता बँध गया। बँगला के द्वारा अंग्रेज़ी उपन्यासों का सार हिन्दी में निचोड़ा जाने लगा। परन्तु एक भी मौलिक जासूसी उपन्यास अंग्रेज़ी के Connel Doyle's—Return of sir sherloek Holmes की टक्कर का न हो सका। यही कारण है कि हिन्दी वालों को उससे अधिक

उपकार नहीं पहुँच सका। हिन्दी में जासूसी उपन्यास लिखने के लिए उपयुक्त लेखक चाहिए। यहाँ के पुलिस और सी० आई० डी० वालों को यदि हिन्दी साहित्य की सेवा करने की इच्छा हो तो वे इस मैदान में शीघ्र कूद पड़ें और रुपया पैदा करने के साथ साथ हिन्दी में एक बड़े अभाव की पूर्ति करने का यश उठावें। यदि उनके मार्ग में सरकार किसी प्रकार की बाधा डाले तो फिर यह काम स्काउटों को ही ले लेना चाहिए। तीसरे प्रकार का उपन्यास समयोपयोगी है। इस प्रकार के उपन्यास के लिखने में हिन्दी में प्रेमचंद को छोड़ कर और कोई नहीं है। आपने ऐतिहासिक उपन्यास एक भी नहीं लिखा है और न आप अपने राजनीतिक विचारों के कारण जासूसी ही उपन्यास लिखने में समर्थ हुए। आपके प्रत्येक उपन्यास में वर्तमान समय का चित्र अङ्कित किया हुआ है। समाज, राजनीति, लोकधर्म व्यक्ति-धर्म सभी बातों की आप समालोचना करने में सिद्ध हैं। समाज जैसा है वैसा ही आप अपने उपन्यास में दिखलाते हैं; परन्तु साथ ही साथ उसकी बुराइयों को दिखला कर आप एक आदर्श समाज की स्थापना भी करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार आपके उपन्यासों में आदर्शवाद की उत्तम झलक दिखलाई देती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में (१) सेवासदन (२) प्रेमाश्रम (३) रङ्गभूमि और (४) कायाकल्प मुख्य हैं। सेवासदन आपका सबसे पहला उपन्यास है। इसमें आपने हिन्दू समाज की बुराइयों

और कुरीतियों का चित्र खींचा है और उनके दूर करने का मार्ग भी बतलाया है। सामाजिक उपन्यास लिखना बड़ी ज़िम्मेदारी का काम है। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से समाज को हानि और लाभ दोनों पहुँच सकते हैं। परन्तु लेखक की शैली यदि उत्तम है तो फिर उसने समाज की चाहे कैसी ही समस्या को क्यों न लिया हो, उससे हानि कभी नहीं पहुँच सकती। अंग्रेजी में रेनाल्ड और डिकेन्स दो सामाजिक उपन्यास लेखक हो गये हैं। दोनोंने इंगलेन्ड के मजदूरों की दयनीय दशा को ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। परन्तु उनके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। दोनों ने मजदूरों की दरिद्रता से उत्पन्न पापों का चित्र खींचा है, परन्तु दोनों के साधन पृथक् हैं। प्रेमचन्द ने सेवासदन में वेश्याओं के द्वारा समाज को जो हानि पहुँचती है वह भली प्रकार दिखलाई है, परन्तु ऐसा करने के लिए उन्होंने डिकेन्स के मार्ग को पसन्द किया, रेनाल्ड के मार्ग को नहीं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों से हिन्दुओं का विशेष कल्यायाण हुआ है। यद्यपि हिन्दुओं ने उनके 'सेवासदन' की तरह यहाँ कोई सेवा सदन खोलने का प्रयत्न नहीं किया है तथापि यह प्रेमचन्द के ही आन्दोलन का फल है कि प्रयाग जैसे नगरों के चौक से वेश्याओं को हटा दिया गया है।

इस उपन्यास की नायिका सुमन है। वह एक बड़े घर की लड़की है। लिखी-पढ़ी और चालाक है। परन्तु चंचल बहुत है। रूप शृङ्गार की ओर अधिक ध्यान देती है। उसके पिता अपनी

कमज़ोरी के कारण उसका विवाह किसी धनी लड़के के साथ नहीं कर सकते हैं। फल यह होता है कि सुमन का विवाह १५) मासिक वेतन पाने वाले एक अधेड़ ब्राह्मण के साथ होता है। सुमन अपने पति को देवता-स्वरूप समझती है, परन्तु अपनी शारीरिक सुख-लालसा के कारण वह पतिव्रत-धर्म नहीं निभा सकती। अंत में वह वेश्या हो जाती है और सदनसिंह के साथ प्रेम करती है। अभी वह पतित नहीं होने पाई है कि विट्ठलदास नामक एक समाज-सुधारक उसका उद्धार करने के लिए पहुँच जाते हैं। वे उसको बड़ी मुश्किल के बाद, समाज-विरोध सहते हुए भी विधवाश्रम में ले जाते हैं और उसके सञ्चालन का भार उसी के सिपुर्द करते हैं।

इस उपन्यास में जितने चरित्र हैं सब सत्य मालूम होते हैं। विट्ठलदास जैसे समाज-सुधारक, कृष्णचन्द्र जैसे कमज़ोर प्रकृति के मनुष्य, तथा पद्मसिंह जैसे दब्बू हर एक समाज में हर एक समय मौजूद रहते हैं। विट्ठलदास यदि विचार के कच्चे हैं तो पद्मसिंह कर्म के कच्चे हैं। इस उपन्यास से प्रकट किया गया है कि वेश्याओं को शहर से निकाल देने ही से काम नहीं चल सकता, उनका यदि वास्तविक उद्धार करना है तो उनके लिए पृथक आश्रम खोलने चाहिए। यहाँ लेखक ने विधानात्मक कार्य को सफल बनाने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम की ओर सङ्केत किया है। इसके अतिरिक्त उसने आजकल की म्यूनिसिपल्टियों के मेम्बरों को मुख्य कार्य भी बतला दिया है।

प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास प्रेमाश्रम है। उसके लिखने का मुख्य उद्देश्य हमारी समझ में, साम्यवाद का जनता में प्रचार करना ही है। यह पुस्तक सन् १९२० में प्रकाशित हुई थी। उस समय असहयोग आंदोलन ज़ोरों पर था और लोग वर्तमान शासन-पद्धति को नष्ट कर किसी नूतन पद्धति को भारत में चालू करने के लिए लालायित हो रहे थे। असहयोग की नीति में पड़-कर यदि प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में साम्यवाद की खूबियाँ दिखलाना ज़रूरी समझा तो इसमें कोई विशेष आश्चर्य नहीं है। इसीलिए प्रेमचंद ने उस उपन्यास में गाँवों का दृश्य दिखलाने में बड़ा चतुरता से काम लिया है। ग्रामीण जीवन का जीता जागता चित्र हमारी आँखों के सामने रख दिया और उसके सुधार की ओर हमें आपने आकर्षित किया। इसी प्रयोजन से उन्होंने एक तरह के पात्रों को इसमें स्थान दिया है। यों तो राय कमलानन्द, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, और डा० ईमान अली शहर के रंग में रँगे हुए हैं परन्तु उनका आधार देहात ही में है। उधर सुक्खू, बिलासी मनोहर, बलराज और कादिर मियाँ ये सब पक्के देहाती ही हैं। सुक्खू चौधरी जैसे पंचों के खंडहर, कादिर मियाँ के से नरम देहाती नेता मनोहर के से अक्खड़ किसान, बलराज के से उदार और बलिष्ट नवयुवक इस देश के प्रत्येक अच्छे गाँव में दिखलाई पड़ेंगे। लखनपुर एक ऐसा ही गाँव था जिसमें प्रभाशंकर जैसे पुरानी लकीर के फकीर ज़मींदार राज करते थे। परन्तु इधर पश्चिमी सभ्यता की प्रतिभा वाले नवयुवक ज़मींदार ज्ञान शंकर ठीक उल्टे

निकले। अत्याचार और स्वार्थसाधन के ये पुतले हैं। उनके समय में प्रजा त्राहि त्राहि करती है। सरकार से मिलकर वह प्रजा को तंग करते रहते हैं। जो बेगार पहले किसान स्वयं करते थे वह अब उनकी जाग्रति के कारण ज़बर्दस्ती ली जाती है। इज़ाफा और बेदख़ली की धूम मच गई। इसके विपरीत हाजीपुर ग्राम ज्ञान-शङ्कर और प्रेमशंकर जैसे साम्यवादी का क़ायम किया हुआ आदर्श ग्राम है। गायत्री के पात्रों का पारस्परिक घृणित सम्बन्ध दिखला कर लेखक ने इस उपन्यास में हिन्दू समाज की भी पोल खोली है।

इस उपन्यास के स्त्री पुरुष में नायक नायिकाओं के चरित्रों की भिन्नता अच्छी तरह से मालूम होती है। प्रेमशङ्कर और ज्ञानशङ्कर दोनों के आचार-व्यवहार में ज़मीन आसमान का फर्क है। उसी प्रकार विद्या और गायत्री के चरित्रों में भी विशेष अन्तर है। इस उपन्यास में भी लेखक का आदर्शवाद मौजूद है। प्रेमशङ्कर और विद्या आदर्श स्त्री पुरुषों के पात्र हैं।

पुरुषों के चरित्र-निर्माण करने में प्रेमचंद्र इतने कुशल नहीं जितने कि स्त्रियों के। यह बात गायत्री के चरित्र से प्रगट है। संसार के सुख-भोग की सामग्री ही उस विधवा का पतन कराती है, इसके विपरीत सुमन सधवा थी; परन्तु उसका पतन उसकी दरिद्रता तथा समाज की रुचि ने किया। रवीन्द्र बाबू की 'आँख की किरकिरी' में माया (विनोदिनी) नाम की एक स्त्री है। उसका भी पतन हुआ है। परन्तु वह दूसरी तरह से। माया हिंदू-

समाज के बंधनों को लात मार कर स्वच्छन्द हो जाती है अंत में यही स्वच्छन्दता उसका सर्वनाश कर देती है। प्रेमचंद यदि चाहते तो वे भी इस मार्ग का अवलंबन करके गायत्री या सुमन सा अधः-पतन दिखला देते। परन्तु उन्हें यह मंजूर नहीं था। उसका कारण यह है कि प्रेमचंद के स्त्री पात्र बङ्गाली तो है नहीं, क्योंकि बङ्गाल की स्त्रियां ही सामाजिक बंधनों से अधिक निकली हुई हैं। रवीन्द्र बाबू का उद्देश्य स्वच्छन्दता की द्रुति-गति को रोकना ही मालूम होता है। प्रेमचंद के लिए अभी उसकी आवश्यकता नहीं है।

प्रेमचंद का तीसरा उपन्यास रङ्गभूमि* है। यही उनके चारो उपन्यासों में बड़ा सुन्दर और उत्तम है। असहयोग आन्दोलन से भारत में जो जाग्रति हुई, जीवन के प्रत्येक पहलू पर उसका जो प्रभाव पड़ा, और महात्मा गांधी के नेतृत्व से देश की जो काया-पलट हुई उसका जीता जागता चित्र देखना हो तो रङ्गभूमि को पढ़ना चाहिए। राजनीति, समाज नीति, लोक नीति और व्यक्ति नीति सबका इसमें बड़ी खूबी के साथ निर्वाह हुआ है। वास्त-विकता और आदर्श का उसमें अटूट और अनिवार्य संबंध मिलता है। मानव समाज के अनेकानेक दृश्यों की इसमें वह झांकी है जो देखते ही बनती है।

नोट :—इस उपन्यास पर सफलता प्राप्त करने पर हिन्दुस्तानी एकाडमी ने बाबू प्रेमचन्द्र को (अगस्त सन् १९२८) इस वर्ष ५००) का पुरस्कार प्रदान किया है।

—सम्पादक

वास्तव में इस उपन्यास के तीन खंड किये जा सकते हैं। पहला खंड सूरदास और उसके गाँव वालों का है, दूसरा खंड विनय और भरतसिंह का परिवार है और तीसरा खंड सोफिया और उसके माता पिता का है। इन तीनों खंडों की कहानियों को प्रेमचंद ने अपनी कला से इस सफलता-पूर्वक मिला दिया है कि पाठक उसका सहज ही में अनुमान नहीं कर सकते।

सूरदास को इस उपन्यास का नायक समझना चाहिए। इसका चरित्र उपन्यास के समस्त चरित्रों से ऊँचा रक्खा गया है। वह एक पहुँचा हुआ महात्मा है जिसके आगे बड़े बड़े लोग हार मान लेते हैं। लेखक ने इसके चरित्र का सार इस प्रकार दिया है—"सब के सब इस खिलाड़ी को एक आँख देखना चाहते थे, जिसकी हार में भी जीत का गौरव था। कोई कहता था, सिद्ध था, कोई कहता था वली था, कोई कहता देवता था ; परन्तु यथार्थ में वह खिलाड़ी था। वह खिलाड़ी—जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आया, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी क़दम पीछे नहीं हटाये, जीता तो प्रसन्न रहा, हारा तो प्रसन्न चित्त रहा, हारा तो जीतने वाले से कीना नहीं रखा, जीता तो हारने वाले पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की, कभी प्रतिद्वन्द्वी पर छिप कर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था, दीन था, कभी भर पेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहिनने को नहीं मिला ; पर हृदय में धैर्य, क्षमा, सत्य और साहस

का अगाध भंडार था। देह पर मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।

हाँ वह साधु न था, महात्मा न था, फ़रिश्ता न था; एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किंतु ये सभी दुर्गुण उस एक गुण के सम्पर्क से नमक की खान में जा कर नमक हो जाने वाली वस्तुओं की भांति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—

"क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था, और अहङ्कार आत्माभिमान के वेष में। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, और दर्द या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देख कर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"

वास्तव में सूरदास के बहाने उपन्यासकार ने महात्मा गांधी के आदर्श जीवन को हमारे सामने रखा है।

सूरदास के बाद रंगभूमि का दूसरा मुख्य पात्र विनय है। सेवा उसका व्रत है और सेवा करते करते ही वह अपनी जान दे देता है। कमज़ोरी इसमें भी है। भरतपुर में पहुँच कर जब वह देखता है कि सोफ़िया के घर पर उसके साथियों ने आक्रमण कर दिया है तब वह क्रोध में अपने आदर्श कर्तव्य को भूल जाता

है और अपनी प्रेमिका की रक्षा की ओट में स्वयं अपने अनुचरों पर अनर्थ करता है।

तीसरी पात्र भी सोफ़िया है। सोफ़िया के हृदय में धर्म का अङ्कुर बचपन ही से जमता है। परन्तु वह उस धर्म को धर्म नहीं मानती जो विवेक को तिलाञ्जलि देने का आदेश करता हो। इसी कारण उसमें और उसकी माता में कभी नहीं पटती। वह विनय से प्रेम करती है और उसकी ख़ातिर क्लार्क को बहकाये रहती है, धोखा देती है और न जाने कितने कष्ट और अपमान सहन करती है। वह विनय को अपनाना चाहती थी परन्तु जब विनय ने लोकनिन्दा के सामने अपनी आत्महत्या कर ली तब उसने भी संसार से कूच कर जाना उचित समझा।

इन तीन विशेष पात्रों के अतिरिक्त रङ्गभूमि में छोटे छोटे और कितने ही पात्र हैं जिनके चरित्रों की विशेष समालोचना करने की यहाँ ज़रूरत नहीं। रानी जाह्नवी भारत की क्षत्राणी का आदर्श है। उसके पति कुँवर भरतसिंह भी बड़े समझदार रईस हैं। भरतसिंह की पुत्री इंदु स्वाधीन विचार वाली स्त्री है। जब उसके पति राजा महेन्द्रकुमार सूरदास को अदालत से दण्ड देने के लिए कटिबद्ध होते हैं तब वही सूरदास के लिए रुपया इकट्ठा करने पर तैयार होती है। महेन्द्रकुमार में भी देश-प्रेम की लगन है, परन्तु उन्हें अपने राजापन का सदा ध्यान लगा रहता है। इसी प्रकार जनसेवक भी सदा अपने स्वार्थ की धुन में मस्त रहते हैं। ताहिर अली एक ग़रीब मुसलमान नौकर है, जो बड़ी

मुश्किल से अपनी जीविका चलाता है। उसका भतीजा आज कल के पुलिस कर्मचारियों के चरित्र का प्रतिबिम्ब है। ग्रामीण लोगों के चरित्र का विकास इस उपन्यास में उतनी उत्तमता से नहीं हो सका है जितनी कि प्रेमाश्रम में हुआ है।

प्रेमचन्द का चौथा उपन्यास कायाकल्प है। इस उपन्यास के लिखने में प्रेमचंद का मुख्य उद्देश्य क्या था, यह मुझे ग्रंथ के आदि से अन्त तक पढ़ने पर भी न ज्ञात हो सका। हां, यह अवश्य है कि इसमें लेखक ने पुनर्जन्म, विज्ञान की उन्नति, सरकारी अफसरों की शासन,-पद्धति, बहुविवाह की प्रथा, ज़मींदारों का कुप्रबन्ध, जेल का वर्णन, हिंदू-मुस्लिम समस्या आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। भाषा और भावों की उड़ान में यह उपन्यास रङ्गभूमि से बढ़कर है, परन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से रङ्गभूमि को नहीं पा सका।

इस उपन्यास का नायक चक्रधर है। वह एक दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यशील और दयालु नवयुवक है। उसने अपने परिश्रम के बल से स्वयं एम० ए० पास किया। इसी समय से उसके हृदय में सेवा-भाव की जाग्रति होती है। एम० ए० पास करने के बाद यदि वह चाहता तो अपने पिता मुन्शी वज्रधर, तहसीलदार की सहायता से कोई न कोई सरकारी नौकरी प्राप्त कर लेता। परन्तु सरकारी नौकरी को वह ग़ुलामी की जंज़ीर समझता है। अतः इसमें उसने अपना हित न समझा। इसके बजाय वह दीवानसिंह की लड़की मनोरमा को ३०) रु० मासिक पर पढ़ाना स्वीकार

कर लेता है। धन का तो इसे कभी लोभ हुआ ही नहीं। इसके बाद मनोरमा के प्रति उसके हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु चक्रधर उसके साथ विवाह करके उसको अपने जैसा ग़रीब नहीं बनाना चाहता। हाँ, जब मुंशी यशोदानन्दन अहल्या के अनाथ होने और उसकी सच्चरित्रता तथा सुशीलता का वर्णन करते हैं तो वह उसके साथ विवाह करने का वचन दे देता है। यशोदानन्दन उसकी परीक्षा लेते हैं, परन्तु इस परीक्षा में वह कच्चा नहीं उतरता। उसने मुंशी जी से साफ कह दिया—माता पिता को प्रसन्न रखना मेरा धर्म है, पर कर्तव्य और न्याय की हत्या से नहीं। इसी प्रकार पिता के सामने दहेज की निन्दा करके भी उसने अपने कर्तव्य और न्याय का परिचय दिया था। इसी कर्तव्य और सेवा-व्रत के कारण उसने राजा साहब के तिलकोत्सव के समय ग़रीबों का साथ दिया और उनसे सत्याग्रह करवाया, इसी कर्तव्य के वश होकर उसे जेल भुगतना पड़ा और इसी कर्तव्य को सामने रख कर उसने राज, पाट, धन, धान्य, माता, पिता और पुत्रादि सब का त्याग किया। आगरे में जिस समय हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था, उस समम यदि वह अपनी चतुराई और कर्तव्य से काम न लेता तो बड़ा ख़ून-ख़च्चर हो जाता। हिंदुओं को तो उसने यह कह कर शान्त किया कि—उस गऊ को बचाने के लिए एक भाई का ख़ून करना पड़ेगा परन्तु मुसलमानों के सामने वह गाय के साथ ख़ुद मरने को तैयार हो गया। उसके विवेक और बुद्धि के सभी क़ायल हैं।

राजा साहब रोहिणी को मनाने के लिए उसी की सहायता लेते हैं, जेल के कैदी भी उसी की बात को मान कर जेल-दारोग़ा की मरम्मत नहीं करते, और उसी के पहुँच जाने से यूरोपियन क्लबों पर जनता का धावा नहीं होता। इतना होने पर भी वह कमज़ोरी से बचने नहीं पाया, रंगभूमि के विनय और कायाकल्प के चक्रधर दोनों में वह कमज़ोरी मौजूद है। दोनों देश के सच्चे सेवक, त्याग की मूर्ति और वचन के पक्के हैं, परन्तु दोनों के जीवन में कुछ समय के लिए कायाकल्प हो जाता है। सोफ़िया के घर में हमला हो ही गया था कि विनय पहुँच गया और बिना किसी से कुछ पूछे जनता पर वार करना शुरू कर देता है। इसी प्रकार जब चक्रधर की मोटर बिगड़ जाती है और उसको ठेलने के लिए गाँव के क्षत्रिय तैयार नहीं होते तब चक्रधर क्रोध के आवेग में धन्नासिंह के भाई पर आघात करता है। परन्तु कार्य की इस एकता के होने पर भी उनके कारणों में अन्तर है। विनय प्रेम और क्रोध के आवेग में आघात करता है, परन्तु चक्रधर ऐश्वर्य और क्रोध के आवेग में। क्रोध दोनों में है परन्तु दूसरा भाव दोनों में भिन्न भिन्न है। चक्रधर का चरित्र इस बात को साबित करता है कि दृढ़ चरित्रवाला व्यक्ति यदि ऐश्वर्य और विलासिता के चक्कर में कुछ समय के लिए फँस भी जाय, तो भी वह उनके बंधन से शीघ्र निकल सकता है।

कायाकल्प में दूसरा मुख्य पात्र मनोरमा का है। इसी को इस उपन्यास की नायिका समझना चाहिए। १३ वर्ष की अवस्था

में उसको पढ़ाने के लिए उसके पिता नवयुवक चक्रधर को नियत करते हैं। इस छोटी सी उम्र में भी वह चक्रधर से सीता-वनवास जैसी बड़ी जटिल समस्या के संबंध में प्रश्न पूछती है। उसकी तीव्र बुद्धि का इसी से पता चलता है। इसी समय से वह चक्रधर से प्रेम करने लगती है। चक्रधर को १२०) की थैली देना, राजा साहब से चक्रधर को जेल से निकालने की दरख़्वास्त करना आदि, इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बचपन में उसने एक बार सोचा था कि अगर मैं रानी होती तो यह करती और वह करती। उसका यह स्वप्न आगे चल कर ठीक निकला। उसने राजा विशाल सिंह से विवाह करना स्वीकार कर लिया। अब प्रश्न है कि उसने विशाल सिंह से विवाह करना क्यों स्वीकार कर लिया ? सब से मुख्य कारण तो हमारी समझ में यह आता है कि उसे रानी होने का शौक़ था, 'ऐश्वर्य के सुख' की वह क़ायल थी और उसका सिद्धान्त था कि 'धन ही सुख और कल्याण का मूल है'। राजा साहब से उसने एक बार कहा था कि मैं धन की लौंडी बन कर नहीं बल्कि उसकी रानी बन कर रहना चाहती हूँ। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि वह धन से अपने हृदय के स्वामी, शरीर के स्वामी नहीं, चक्रधर को लोक-हित के कार्यों में सहायता पहुँचाना चाहती है। इसलिए उसकी इस उक्ति को हम सच मानते हैं कि धन से मुझे प्रेम है, लेकिन केवल इसी लिए कि उससे मैं कुछ सेवा कर सकती हूँ और सेवा करने वालों की कुछ मदद कर सकती

हूँ। मेरी समझ में वास्तविक बात यही है। मनोरमा का राजा साहब से विवाह करने में यही तात्पर्य था। ज्योतिषी जी का यह कथन कि तू प्रेम को छोड़ कर धन के पीछे दौड़ेगी पर तेरा प्रेम ही से उद्धार होगा, अंत में सच निकलता है।

मनोरमा को राजा साहब से तनिक भी प्रेम नहीं है, इस बात को वह कभी नहीं छिपाती और विवाह करने के पूर्व ही उनसे साफ साफ कह भी देती है। चक्रधर ही उसके जीवन-सर्वस्व हैं। अहल्या के तो चक्रधर पति ही थे; परन्तु इससे उसको अहल्या के प्रति कभी ईर्ष्या नहीं हुई। बल्कि अहल्या ही उससे द्वेष रखती थी। अहल्या और मनोरमा के चरित्रों में जो भिन्नता है वह बिल्कुल स्पष्ट है। मनोरमा एक दीवान की लड़की थी, बाद में उसका राजा के साथ विवाह हुआ, किन्तु इस पद के प्राप्त होने पर भी वह लोकहित के कार्य्यों से विमुख नहीं होती। अहल्या का बचपन एक साधारण कुटुम्ब में बीता है। साधारण स्थिति के एक नवयुवक के साथ उसका विवाह भी हुआ है, परन्तु जब उसे इस बात का पता चला कि वह राजकन्या है तब उसकी प्रसन्नता का आर पार नहीं मिलता। वह अपने पिता के राज को छोड़ कर पति के साथ दरिद्र जीवन बिता कर अपने दिन नहीं बिताना चाहती। वह तो इसी उन्माद में है कि उसका पुत्र शंखधर एक दिन उसके पिता की गद्दी का उत्तराधिकारी होगा। मनोरमा और अहल्या दोनों के जीवनों में कायाकल्प होता है। मनोरमा में धन की ओर से प्रेम की ओर

झुकाव होता है, परन्तु अहल्या में प्रेम की ओर से धन और ऐश्वर्य की ओर।

कायाकल्प में शंखधर के चरित्र की भी विशेषता है। उसकी पितृभक्ति बढ़ी चढ़ी हुई है, १२ वर्ष की उम्र में वह पिता की खोज में निकलता है और उनको खोज कर ही दम लेता है।

कायाकल्प में एक वह विशेषता वर्तमान है जो रङ्गभूमि में नहीं आने पाई। यह विशेषता मुंशी वज्रधर का चरित्र है। कायाकल्प जैसे शुष्क उपन्यास में केवल इसी के चरित्र के कारण सजीवता और सरसता पहुँच गई है। अन्य चरित्रों में धन्नासिंह का चरित्र माननीय है। चक्रधर के संसर्ग से उसके जीवन में कायाकल्प होता है। लौंडी और तीनों सौतों के चरित्रों से बड़े घर के लोगों के पारिवारिक जीवन का भली भांति पता चलता है। ख़्वाजा महमूद और यशोदानन्द जैसे लोगों के चरित्रों के द्वारा उपन्यास लेखक ने आज कल की लीडरी की ख़बर ली है, परन्तु उसको गिरते हुए बचा लिया है। देवप्रिया और शंखधर का पुनर्जन्म होता है, परन्तु ज्योंही एक दूसरे से प्रेम-सूत्र में बंधना चाहता है त्योंही दोनों का अन्त हो जाता है।

यह तो हुई प्रेमचन्द के उपन्यासों की समालोचना। अब हमें इनके नाटकों के संबंध में भी कुछ लिख देना चाहिए। प्रेमचंद ने अब तक सिर्फ दो ही नाटक लिखे हैं जिनमें कर्बला अधिक प्रसिद्ध है। आपको नाटक के क्षेत्र में उतनी सफलता नहीं मिल सकी जितनी कि उपन्यास अथवा कहानी के क्षेत्र में। आपके नाटकों के

पढ़ने में कुछ न कुछ आनन्द तो अवश्य मिलता है. परन्तु वे रङ्गमंच पर खेले नहीं जा सकते। नाटककार और औपन्यासिक के क्षेत्र अलग अलग हैं। उपन्यास में लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह अपने पात्रों से कहला लेता है, और अनेक स्थानों पर वह स्वयं अपनी सम्मति भी खुल कर दे सकता है । दूसरी बात यह है कि उपन्यास में लेखक पात्रों को अपनी इच्छानुसार चलने और रुकने की आज्ञा देता है। किन्तु यह बात नाटक में नहीं हो सकती। नाटक के पात्र स्वयं स्वच्छन्दता पूर्वक घूमते हैं। एक बार जहां उनका निर्माण हुआ वहीं वे अपना अपना काम करने लग जाते हैं । उपन्यास में लेखक गुप्त बात को प्रकट कर सकता है, जटिल समस्याओं को सुलझा सकता है, परन्तु नाटक में वह यह सब करने में असमर्थ है। प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रेमचंद की आत्मा पैठी रहती, है परन्तु नाटक में नाटककार की आत्मा के पैठने का अवसर नहीं मिल सकता। इसी आत्मा की पैठ न होने के कारण प्रेमचंद के नाटकों में वह सरसता और वह सजीवता नहीं आ सकी जो कि अन्य नाटकों में वर्तमान है अथवा जो उनके उपन्यासों में ही वर्तमान है।

प्रेमचंद के कुशल नाटककार न हो सकने का एक कारण उनकी शैली भी है। नाटक में लेखक की शैली का अभाव रहता है। इस स्थल पर हमारे लिए उचित होगा कि हम प्रेमचंद की शैली पर भी कुछ विचार कर लें। शैली में सब से पहला स्थान भाषा का है। प्रेमचंद की भाषा कितनी सरल, उनके वाक्य

किस तेज़ी से दौड़ते हैं यह तो उनकी कहानियों में देखा जा सकता है, परन्तु उपन्यास में तो वह और भी उत्तमता के साथ मौजूद है। प्रेमचन्द अपने उपान्यास में उपयुक्त पात्र के द्वारा उपयुक्त भाषा का प्रयोग करवाते हैं। पात्र के द्वारा उसके अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में प्रेमचंद तो सिद्धहस्त हैं ही, परन्तु वे अवसर और घटना विशेष का भी ध्यान रखते हैं। प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में जहाँ कहीं मुसलमान पात्र आये हैं उनके मुख से ख़ालिस उर्दू ही कहलवाना उन्होंने उचित समझा। कायाकल्प के ख़्वाजा साहब की एक स्पीच सुनिये—"यह वही बादशाह है जिसकी लाश तुम्हारे सामने पड़ी हुई है, यह इसी की हरकत थी। मैं तो सारे शहर में अहल्या को तलाश करता फिरता था और वह मेरे ही घर में क़ैद थी। यह ज़ालिम उस पर जब्र करना चाहता था। ज़रूर किसी ऊँचे ख़ानदान की लड़की है। काश इस मुल्क में ऐसी और लड़कियाँ होतीं! आज उसने मौक़ा पा कर इसे जहन्नुम का रास्ता दिखा दिया। छुरी सीने में भोंक दी। ज़ालिम ने तड़प तड़पा कर मरा। कमबख़्त जानता था, अहल्या मेरी लड़की है। फिर भी अपनी हरकत से बाज़ न आया। ऐसे लड़के की मौत पर कौन बाप रोयेगा। तुम बड़े ख़ुशनसीब हो कि ऐसी पारसी बीबी पाओगे।" इसी प्रकार के एक मौलवी साहब का भाषण और सुनिये—"भाइयो, आप लोग ख़्वाजा साहब की ज़्यादती देख रहे हैं। अब आप ही फ़ैसला कीजिए कि दीन के मामलात में उलमा का फ़ैसला वाजिब है

या उमरा का।" मुसलमानों के सामने चक्रधर को भी उर्दू बोलनी पड़ती है। इसका भी नमूना सुनिये—"बेशक मुझे बोलने का कोई हक़ नहीं है, लेकिन इसलाम की जो इज़्ज़त मेरे दिल में है वह मुझे बोलने के लिए मजबूर कर रही है। इसलाम ने कभी दूसरे मज़हब वालों की दिलाज़ारी नहीं की। उसने हमेशा दूसरों के मज़बात का एहतराम किया है। बग़दाद और रूम, स्पेन और मिस्र की तारीखें उस मज़हबी आज़ादी की शाहिद हैं जो इसलाम ने उन्हें अता की थी। अगर आप हिंदू मज़बात का लिहाज़ करके किसी दूसरी जगह कुरबानी करें तो यक़ीनन इसलाम के वक़ार में फ़र्क़ न आवेगा।" कायाकल्प में एक सिक्ख भी अपनी भाषा सुनाता है। इसे भी सुनिये—अजी देखणा ठक्के छुट्टा देंगे।" मिस्टर जिम एक अंग्रेज़ कलेक्टर हैं। हिन्दुस्तानियों के सामने अंग्रेज़ लोग अपने रोब में किस प्रकार हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग करते हैं यह उनके इस वाक्य से प्रकट है—ओ तहसील-दार साहब, यह टुम्हारा लड़का है? टुमने उसको घर से निकाल क्यों नहीं दिया! सरकार टुमको इसके लिए पेंशन नहीं देता कि टुम बागियों को पाले। हम टुम्हारा पेंशन बंद कर देगा। पेंशन इसीलिए दिया जाता है कि टुम सरकार का वफ़ादार नौकर बना रहे।" प्रेमचंद उपन्यास में बच्चों की भाषा तोतली बोली में लिखते हैं। यथा—"मैं तो बाबूदी के साथ लेल पर आई थी।" (लड़की पृ० २) सात आठ वर्ष के लड़के जब बोलना चालना अच्छी तरह सीख जाते हैं तब भी वे बोलते समय अपने

माता पिता की ओर बार बार देख कर, उनको पुकार पुकार कर तरह तरह के प्रश्न पूछा करते हैं। शंखधर के प्रश्नों में प्रेमचंद ने यही भाव दिखलाया है—"अम्मा, बाबू जी कब आवेंगे? वह क्यों चले गये अम्मा जी? आते क्यों नहीं? तुमने उनको क्यों जाने दिया अम्मा जी? तुमने हमको उनके साथ क्यों नहीं जाने दिया? तुम उनके साथ क्यों नहीं गई, अम्मा? आदि।"

देहात के लोगों की भाषा को प्रेमचंद ने बिल्कुल देहाती ही रूप नहीं दिया है। यदि वे चाहते तो किसी न किसी बोली का रूप दे देते, परन्तु उन्होंने ऐसा करना इसलिए उचित नहीं समझा कि इससे सब का मनोरंजन नहीं हो सकता, उन्होंने किसी अन्य बोली का आश्रय न लेकर खड़ी बोली ही की शरण ली। परन्तु देहाती लोगों की भाषा में अत्यन्त सरल और मुहावरेदार शब्दों को ही रक्खा है। जैसे परचार, दूसा, होसियार, नरम आदि॥ प्रेमाश्रम के कादिर मियाँ को इस प्रकार बोलना पड़ता है—"कल लस्कर का एक चपरासी बिसेसर के यहाँ सागूदाना माँग रहा था। बिसेसर हाथ जोड़ता था, पैरों पड़ता था कि मेरे यहाँ सागू नहीं है। लेकिन चपरासी एक न सुनता था। कहता था जहाँ से चाहो मुझे लाकर दो। गालियाँ देता था, डंडा दिखाता था। बारे बलराज! पहुँच गया। जब वह कड़ा पड़ा तो चपरासी मियाँ नरम पड़े और भुनभुनाते चले गये।"

प्रेमचंद ने अपने ग्रंथों में चलती हुई कहावतों का ख़ूब उस्तादी के साथ प्रयोग किया है। यही नहीं, उन्होंने कुछ कहावतों

को तो अंग्रेज़ी से अनुवाद कर लिया है—जैसे 'फावड़े को फावड़ा कहना' "सचाई आप ही अपना इनाम है' पैरों तले घास न जमने देना, दूध पर आंसू बहाना, रँगे हाथों पकड़ा जाना, इनके अतिरिक्त बहुत से मुहावरे तो आपने अपने आप ऐसे गढ़ लिये हैं जो समय पाकर भाषा में प्रचलित हो जायँगे। यथा, अगर आप उसे ले गये तो शंखधर भी जायगा और मेरी सोने की लंका धूल में मिल जायगी 'गुड़ खाय गुलगुले से परहेज़'

'रानी रूठेंगी तो अपना सोहाग लेंगी'*

प्रेमचन्द के ग्रंथों में हास्य की पुट बहुत कम मिलती है। कारण यह है कि आप खुल्लमखुल्ला हँसने या हँसाने के पक्षपाती नहीं मालूम होते, तो भी कायाकल्प में मुं० बज्रधर का चरित्र मालूम होता है, इसी कमी को दूर करने के लिए अङ्कित किया गया है। तोंद के विषय में मुंशी जी की उक्ति सुनिये—"यार ज़रा सी कसर रह गई। तोंद के बग़ैर पंडित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर।माल नहीं मिलते, अभी तो तांत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पंडित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय। उसे सब कुछ भला मालूम होता है। मैं तोंदल होता तो अब तक न जाने

* लेखक जी यहाँ भूल कर गये हैं, ये सब मुहावरे प्रेमचन्द्र जी के रचे हुये नहीं हैं वरन् बहुत दिनों से ऐसे ही प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि इनको किसने जन्म दिया है। —सम्पादक

किस ओहदे पर होता। सच पूछो तो तोंद न रहने ही के कारण अफसरों पर मेरा रोब न जमा। बहुत घी, दूध खाया, पर तक़दीर में बड़ा आदमी होना न बदा था। तोंद न निकली, न निकली। तोंद बना लो, नहीं तो उल्लू बनाकर निकाल दिये जाओगे, जाओ किसी तोंदूमल को पकड़ो।

प्रेमचंद जी व्यंग्य हास को दर्शाने में बड़े कुशल हैं। कायाकल्प में मनोरमा की हँसी को देखिये उस समय जब वह एक एक कर के अपनी सारी चीज़ नई रानी के लिए देने में संकोच नहीं करती। (पृष्ठ ५६८).

"नई रानी सा० के लिए सुन्दर भवन बनवाया जा रहा था। उसकी सजावट के लिए एक बड़े आइने की ज़रूरत थी। शायद बाज़ार में उतना बड़ा आइना न मिल सका। हुक्म हुआ कि छोटी रानी के दीवानख़ाने का बड़ा आइना उतार लाओ। मनोरमा ने यह हुक्म सुना और मुसकुरा दी, फिर कालीन की ज़रूरत पड़ी। फिर वही हुक्म हुआ—छोटी रानी के दीवानख़ाने से लाओ। मनोरमा ने मुसकुरा कर सारी कालीने दे दीं। उसके कुछ दिनों बाद हुक्म हुआ—छोटी रानी की मोटर नये भवन में लाई जाय, मनोरमा इस मोटर को बहुत पसंद करती थी। उसे ख़ुद चलाती थी। यह हुक्म सुना तो मुसकुरा दिया।"

प्रेमचंद के उपन्यासों में मुख्य मुख्य पात्रों की मृत्यु या आत्म-हत्या हो जाती है। रङ्गभूमि और कायाकल्प में देखिये तो मालूम होगा कि यशोदानन्दन, रोहिणी, हरसेवकसिंह, मुंशी वज्रधर

ख़्वाजा साहब का पुत्र, राजा साहब, अहल्या, सूरदास, विनय, सोफ़िया, देवप्रिया और शंखधर सब पुस्तकों के अन्त में इस दुनिया से कूच कर जाते हैं। सेवासदन और प्रेमाश्रम में ही उनके नायक अपने आदर्श चरित्र की सफलता प्रकट करने के लिए जीते बचते हैं।

इन उपन्यासों में प्रकृति-वर्णन बहुत कम स्थलों पर आया है। प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि और कायाकल्प तीनों में देहाती समाज का वर्णन है, परन्तु कहीं भी उनके प्रतिदिन के कार्यों का वर्णन नहीं आया है। प्रेमचंद ने प्रकृति-वर्णन दो कारणों से किया है, एक तो इसलिए कि उससे मनुष्य की वृति का सादृश्य दिखलाया जाय, दूसरे इसलिए कि उसकी और मनुष्य की कृति की तुलना की जा सके। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जिस अवस्था में होता है उसी अवस्था के अनुसार वह अपने चारों ओर की वस्तुओं को देखता है। उदाहरण

"(१) प्रकृति माधुर्य में डूबी हुई है। आधी रात का समय है। चारों तरफ चांदनी छिटकी हुई है। वृक्षों के नीचे कैसा सुंदर जाल सा बिछा हुआ है! पक्षि-हृदय को फँसाने के लिए नदियों पर कैसा सुन्दर जाल है! मीन-हृदय को तड़पाने के लिए ये जाल किसने फैला रक्खे हैं?

(२) चाँदनी छिटकी हुई थी। चारों ओर सन्नाटा था। पर्वत श्रेणियाँ अभिलाषाओं की समाधियों सी मालूम होती थीं। वृक्षों के समूह श्मशान से उठने वाले धुएँ की तरह नज़र आते

थे। चक्रधर क़दम बढ़ाते हुए पथरीली पगडंडियों पर चले जाते थे।"

प्रकृति का सुन्दर और विशद वर्णन आपने कहीं नहीं किया। घटनाओं के बीच में उपयुक्त स्थल पर यदि ये वर्णन आ जाते तो उनसे मनोरंजन द्विगुणित हो जाता। कायाकल्प में दो एक स्थल पर आपने ऐसा वर्णन किया है—परन्तु वर्णन बहुत ही सूक्ष्म है—

"(१) ज्यों ही गाड़ी गंगा के पुल पर पहुँची, चक्रधर की चेतना जाग उठी। सँभल बैठे। गंगा के बायें किनारे पर हरियाली छाई हुई थी। दूसरी ओर काशी का विशाल नगर, ऊँची अट्टालिकाओं और गगनचुंबी मन्दिर-कलसों से सुशोभित, सूर्य के स्निग्ध प्रकाश से चमकता हुआ खड़ा था। मध्य में गंगा मंदगति से अनन्त गति की ओर दौड़ी चली जा रही थी मानों अभिमान से अटल नगर और उत्फुल्लता से झूमती हुई हरियाली से कह रही हो—अनन्त जीवन अनन्त प्रवाह में है।"

(२) वसन्त की शीतल, सुगन्ध से लदी हुई समीर पुत्र-वत्सल माता की भाँति वृक्षों को हिंडोलों में झुला रही है, नवजात पल्लव उसकी गोद में मुसकुराते और प्रसन्न हो हो कर ठुमकते हैं। चिड़ियाँ उन्हें गा गा कर लोरियाँ सुना रही हैं, सूर्य की स्वर्णमयी किरणें उनका चुम्बन कर रही हैं। सारी प्रकृति वात्सल्य के रंग में डूबी हुई है; केवल एक प्राणी अभागा है जिस पर इस प्राकृति-वात्सल्य का ज़रा भी असर नहीं! वह शंखधर है।

प्रेमचंद ने अपने ग्रंथों में संसार के अनेक जटिल से जटिल विषयों का उल्लेख किया है और उन पर अपनी सम्मति दी है। कहीं कहीं तो अपने प्रेम, धर्म, और कर्म की एकता, राष्ट्रीयता, विशेषज्ञों की सङ्कीर्णता, पुनर्जन्म और मृत्यु आदि विषयों तक की व्याख्या की है।

प्रेमचंद को प्रेम शब्द बहुत प्यारा है। आदर्श प्रेम आपकी सम्मति में वह है जिसमें वासना न हो। देखिए आप अहल्या के मुख से प्रेम की कैसी सुन्दर व्याख्या करवाते हैं!—"मैंने किसी पुस्तक में देखा था कि प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शांत स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार, सभी मिले होते हैं। संभव है आज से दस वर्ष बाद मैं आपकी प्रेमपात्री बन जाऊँ। किन्तु इतनी जल्द संभव नहीं है। इनमें से कोई एक भाव प्रेम को अंकुरित कर सकता है पर उसका विकास अन्य भावों के मिलने ही से होता है। आपके हृदय में अभी केवल दया का भाव अंकुरित हुआ है, मेरे हृदय में सम्मान और भक्ति का। हाँ, सम्मान और भक्ति दया की अपेक्षा प्रेम से कहीं निकटतर हैं, बल्कि यों कहिए कि ये ही भाव सरस हो कर प्रेम का बालरूप धारण कर लेते हैं।"

तो भी प्रेमचन्द प्रेम को भक्ति से पृथक् ही समझते हैं। इन दोनों की तुलना करते हुए आप रंगभूमि में लिखते हैं—"प्रेम और

वासना में उतना ही अंतर है, जितना कांचन और कांच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवाभाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं जिसका अंत बलिदान है। प्रेम अभय का अंत है। प्रेम का उपासक संसार की समस्त चिंताओं और बाधाओं से मुक्त हो जाता है।"

प्रेमचंद जी धर्म की एकता में विश्वास रखते हैं। हिन्दू होते हुए भी उनकी निगाह में हिन्दूधर्म ही संसार में अकेला धर्म नहीं है। सब धर्म बराबर हैं और एक से हैं, यह अपने रंगभूमि और कायाकल्प दोनों में दिखला दिया है। आपका ख़्याल है कि आजकल धर्म के नाम पर जो अत्याचार किया जा रहा है वह धर्म नहीं है धर्म का ढोंग है। जातीयता के आप शत्रु और पवित्र राष्ट्रीयता के आप उपासक हैं—रंगभूमि में कुँवर भरतसिंह धर्म की एकता के संबंध में कहते हैं—"वह धर्म केवल जत्थेबंदी है, जहां अपनी बिरादरी से बाहर विवाह करना वर्जित हो; क्योंकि इससे उसकी क्षति होने का भय है। धर्म, और ज्ञान, दोनों एक हैं, और इस दृष्टि से संसार में केवल एक धर्म है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध ये धर्म नहीं हैं, भिन्न भिन्न स्वार्थों के दल हैं, जिनसे हानि के सिवा आज तक किसी को लाभ नहीं हुआ।

मृत्यु क्या है, कैसे होती है, और मनुष्य फिर जन्म कैसे धारण करता है, यह प्रेमचंद के पात्र राजकुमार से सुनिये—"जिसे हम मृत्यु कहते हैं और जिसके भय से संसार काँपता है, वह केवल एक यात्रा है। उस यात्रा में भी मुझे तुम्हारी याद आती रहती थी, विकल हो कर आकाश में इधर उधर दौड़ा करता था। प्रायः, सभी प्राणियों की यही दशा थी। कोई अपने संचित धन का अपव्यय देख देख कुढ़ता था, कोई अपने बाल-बच्चों को ठोकरें खाते देख कर रोता था। वे दृश्य इस मृत्युलोक के दृश्यों से कहीं करुणाजनक, कहीं दुखमय थे। कितने ही ऐसे जीव दिखाई दिये जिनके सामने यहाँ सम्मान से मस्तक झुकाता था। वहाँ उनका नग्न स्वरूप देख कर उनसे घृणा होती थी। यह कर्म लोक है, वह भोग-लोक; और कर्म का दंड कर्म से कहीं भयंकर होता है। मैं भी उन्हीं अभागों में था। देखता था मेरे सिंचित उद्यान को भाँति भाँति के पशु कुचल रहे हैं, मेरे प्रणय के पवित्र सागर में हिंसक जल-जन्तु दौड़ रहे हैं और देख देख कर क्रोध से विह्वल हो जाता था। अगर मुझ में वज्र गिराने की सामर्थ्य होती, तो गिरा कर उन पशुओं का अंत कर देता। मुझे यही ताप, यही जलन थी। कितने दिनों मेरी यह अवस्था रही, इसका कुछ निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ समय का बोध करानेवाली मात्राएँ न थीं; पर मुझे तो ऐसा जान पड़ता था कि उस दशा में पड़े हुए मुझे कई युग बीत गये। रोज़ नई नई सूरतें आतीं और पुरानी सूरतें लुप्त होती रहती थीं। सहसा एक दिन मैं भी

लुप्त हो गया। कैसे लुप्त हुआ, यह याद नहीं, पर होश आया, तो मैंने अपने को बालक के रूप में पाया। मैंने राजा हर्षपुर के घर में जन्म लिया था।"

प्रेमचंद ने वर्तमान अवस्थाओं पर तो अपने विचार प्रकट किये ही हैं, परन्तु आप साहित्य की गति से भी वाकिफ हैं। आज कल के कवियों की कविताओं के सम्बन्ध में आपका यह कथन है—

"नवीन युग के कवियों में तो किसी को मुझसे टक्कर लेने का दावा नहीं हो सकता, और पुराने ढंग के कवियों से मेरा कोई मुकाबिला नहीं। मेरे और उनके क्षेत्र अलग हैं। उनके यहाँ भाषा-लालित्य है, पिंगल की कोई भूल नहीं, खोजने पर भी कोई दोष न मिलेगा, लेकिन उपज का नाम नहीं, मौलिकता का निशान नहीं। वही चबाए हुए कौर चबाते हैं। विचारोत्कर्ष का पता नहीं होता। दस बीस पद्य पढ़ जाओ, तो कहीं एक बात मिलती है, यहाँ तक कि उपमायें भी वही पुरानी धुरानी जो प्राचीन कवियों ने बाँध रक्खी हैं। मेरी भाषा इतनी मंजी हुई न हो, लेकिन भरती के लिए मैंने एक पंक्ति नहीं लिखी। फायदा ही क्या?"

प्रेमचंद के ग्रंथों में उनके विचारों की झलक ऊपर दिखाई गयी। इनके पढ़ने से हम प्रेमचंद के हृदय और उनके मस्तिष्क की थाह पा जाते हैं। कहा भी गया है कि यदि तुम किसी लेखक के विचारों को जानना चाहते हो तो उसके ग्रंथों को देखो।

उनके पढ़ने से तुम यह भली भाँति समझ जाओगे कि लेखक का मिशन क्या है, वह किस उपदेश के लिए जनता के सामने अपने हृदय को खोलता है। प्रेमचंद के ग्रंथों के पढ़ने से मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि प्रेमचंद पक्के राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रीयता के भाव आपके प्रत्येक ग्रंथ में उपलब्ध हैं। अपने ग्रंथों के द्वारा आप इसी का प्रचार करना चाहते हैं। आप महात्मा गांधी के सिद्धान्तों और विचारों को मानते हैं और अपने ग्रंथों के द्वारा आपने यह दिखलाया है कि वे सिद्धान्त और विचार किस रीति से कार्य में परिणित किये जा सकते हैं। व्यर्थ की बातचीत और कौंसिलों की वाक्पटुता में देश का कल्याण नहीं हो सकता। देश का कल्याण हिंदू मुस्लिम एकता रखने, अस्पृश्यता को दूर करने, सादा जीवन और ऊँचा विचार रखने, कर्तव्य का पालन करने और किसानों के साथ हमदर्दी रखने से हो सकता है। आपको विज्ञान की उन्नति पर विश्वास है और संगीत को फिर से अपनाने पर आपने ज़ोर दिया है। वर्तमान हिन्दू समाज के ऊँच नीच के भेद, और विधवा विवाह का विरोध आपको पसंद नहीं। खाने पीने और दूसरी जातियों के साथ विवाह न करने में जो धर्म माना गया है उसके घोर विरोधी हैं। समाज सुधार, आपकी सम्मति में, रचनात्मक है, वह कार्य्यों ही से हो सकता है, केवल विधानात्मक कार्य्यों से कोई विशेष उपकार नहीं हो सकता। इनसे प्रकट है कि प्रेमचंद बड़े उच्चाशय और मनोविज्ञान के पंडित हैं।

जिस लेखक के ग्रंथों की पृष्ठ संख्या इस समय हज़ार पृष्ठों तक पहुँच गई हो और जो इनको द्रुतगति से प्रकाशित करता हो उसके ग्रंथों में यदि कोई न कोई भूल रह गई हो, कोई न कोई दोष दिखलाई दे तो उसमें आश्चर्य ही क्या। यों तो ढूढने से इनके ग्रंथों में बहुत कम ग़ल्तियां मिलेंगी परन्तु एक दो जो मुझे यहां वहां दिखलाई पड़ीं उनका यहां मैं ज़िक्र किये देता हूँ। कायाकल्प में एक पात्र वज्रधरसिंह का है। आप जाति के क्षत्रिय हैं परन्तु आपको मुंशी की उपाधि से बहुत प्रेम है। ठाकुर के साथ आपको गँवारपन का बोध होता है, इसीलिए सब कोई आपको 'मुंशी जी' 'मुंशी जी' ही कहते हैं। राजा विशालसिंह के यहां आपका बड़ा मान है। रियासत के एक प्रधान कर्मचारी हैं। एक बार आपके पास एक लड़का नौकरी की तलाश में पहुँचा। लड़का उनसे इस प्रकार कहता है—"मैंने सुना है कि जगदीशपुर में किसी एकौंटेंट की जगह खाली है, आप सिफारिश कर दें तो शायद यह जगह मुझे मिल जाय। मैं भी कायस्थ हूँ और बिरादरी के नाते आपके ऊपर मेरा बहुत बड़ा हक है, मेरे पिता जी कुछ दिनों आपकी मातहती में कर चुके हैं। आपको मुंशी सुखवासी लाल का नाम तो याद होगा।" इससे प्रकट है कि लेखक ने जान बूझ कर युवक से ग़लती तो करवाई नहीं, क्योंकि वे स्वयं लिखते हैं कि लड़के का पिता वज्रधर के साथ काम कर चुका था। वास्तव में यह ग़ल्ती प्रेमचंद से ही हुई है, क्योंकि मुंशी शब्द से सम्भव है, यह पंक्तियां लिखते समय उनको चक्रधर की जाति भूल गई हो।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी आपने दो एक भूलें की हैं। अंधे सूरदास का बग्गियों के साथ साथ दो दो तीन तीन मील तक दौड़ाया जाना कहां की बुद्धिमत्ता है। इससे घटना की वास्तविकता नष्ट हो गई है। प्रेमचंद अपने उपन्यासों के प्रधान पात्रों को आदर्श बनाने में बहुत आगे बढ़ जाते हैं। विनय, चक्रधर तथा शंखधर के चरित्र अनेक स्थलों पर झूठे से मालूम होने लगते हैं। वे भी मनुष्य हैं, और मनुष्य के नाते से उनमें भी कमज़ोरियां दिखलानी चाहिए। इन कमज़ोरियों के होने ही से उनके चरित्र सच्चे और आदर्श चरित्र मालूम हो सकते हैं। आपने इन चरित्रों की केवल एक दो कमज़ोरियों को ही दिखलाकर बस कर दिया है, इसी प्रकार ज्ञानशंकर का चरित्र चित्रित करते समय आपने उसको सारी बुराइयों की जड़ मान लिया है। बुरे से बुरे आदमी के मन में भी कभी उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं, उसके हृदय में भी कभी कभी सहानुभूति के भाव जाग्रित होते हैं, पारिवारिक जीवन का वह भी निभाना जानता है। परन्तु प्रेमाश्रय का ज्ञानशङ्कर एक ऐसा व्यक्ति है जिसे अपनी स्त्री को भी धोखा देकर स्वार्थ-साधन करने में लज्जा नहीं आती। ज्ञानशंकर का चरित्र भी हमें अनेक स्थलों पर झूठा प्रतीत होने लगता है।

आपके उपन्यासों में भाषा की भूलें भी कहीं कहीं रह गई हैं। यह स्वाभाविक ही है। रङ्गभूमि में 'उसके' और 'उनके' के प्रयोग में बड़ी गड़बड़ी हो गई है। उदा० पृ० २५८ में विनय

की माता विनय के लिए 'उन' का प्रयोग करती है। माता के मुँह से 'उस' का प्रयोग कराना ही उत्तम है जैसा २४३ पेज में किया भी गया है। इसी प्रकार ५२३ पृष्ठ में 'नायकराम कमज़ोर थे' उनके बचने की आशा न थी आदि लिखा हुआ है, परन्तु पृष्ठ ५२६ में उसके लिए आदर सूचक शब्द न लिखकर यह लिखा है—नायकराम अभी तक चलने फिरने में कमज़ोर था, न्योछावर रहने को तैयार रहता था, आदि।

परन्तु सबसे बड़ा दोष जो प्रेमचंद के सिर पर मढ़ा जाता है वह है उनकी मौलिकता के सम्बन्ध में। इधर पं० अवध उपाध्याय ने सरस्वती आदि पत्रिकाओं में 'रंगभूमि' की तुलना 'आँख की किरकिरी' तथा 'वैनिटरी फेयर' से तथा 'कायाकल्प' की 'Eternal city' से करके आपने यह सिद्ध किया है कि इन दोनों उपन्यासों का ढाँचा प्रेमचंद का निज का नहीं है। मैंने अवध उपाध्याय जी के लेखों को पूरा पूरा नहीं पढ़ा है और न उन अंग्रेज़ी पुस्तकों ही को पढ़ा है जिनका आपने ज़िक्र किया है। परन्तु जो कुछ मैं आपसे जान सका हूँ उसका सारांश यही निकलता है कि प्रेमचंद के उपन्यास मौलिक नहीं हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या ढाँचे के मौलिक न होने ही से कोई ग्रंथ मौलिक नहीं कहा जा सकता। मेरी समझ में मौलिकता का यह अर्थ करना ठीक नहीं है। ऐसा मनमाना अर्थ करके प्रेमचंद ही के साथ अन्याय नहीं किया गया है, परन्तु सारे हिन्दी संसार के साथ। मौलिकता तो ग्रंथ के प्रस्तुत करने में है,

विचारों को सामने रखने की विधि में। जिसे अंग्रेज़ी में Presentation कहते हैं। यदि यह Presentation नई रीति से किया गया है तो ग्रंथ के मौलिक होने में संदेह नहीं। यदि मौलिकता की यह परख ठीक और उचित है तो मेरी दृष्टि में प्रेमचन्द एक ऊँचे दरजे के मौलिक उपन्यास लेखक हैं। प्रेमचंद के पहले उनके ढंग का न कोई उपन्यास लिखा गया था और जहाँ तक मुझे ज्ञात है न अभी तक किसी ने लिखने का साहस ही किया है। अतएव प्रेमचंद को हिंदी साहित्य में एक प्रबल क्रांतिकारी कहना चाहिए। वे ऐसे क्रांतिकारी हैं जो अपने छोटे छोटे शब्दों और वाक्यों के गोले से हिन्दी-साहित्य में और उसके द्वारा भारत में स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं। भला ऐसे सच्चे देशसेवक, और साहित्य महारथी, उपन्यास-सम्राट् के ग्रंथों को पढ़कर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसके हृदय में लेखक के प्रति प्रेम और श्रद्धा न उत्पन्न हो?

नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत

[Raspanchadhayi is a religious poem.]

[लेखिका :—श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए०]

साधरणतया देखने से " रासपंचाध्यायी " संयोग शृङ्गार की कविता प्रतीत होती है। इसमें कवि ने संयोग शृङ्गार का एक सजीव और रस-पूर्ण चित्र अंकित किया गया है। आरम्भ से लेकर अंत तक यह प्रेमरस से ही परिपूर्ण है। गोपियां कृष्ण के प्रेम में मतवाली हैं, उन्हीं के ध्यान में मग्न हैं। उनकी मुरली-ध्वनि सुनाई देती है और उसी नाद का अनुसरण करती हुई वे अपने अपने घरों को छोड़ कृष्ण के चारों ओर आ कर जम जाती हैं। प्रेम में तल्लीन होने के कारण लोक-लज्जा और मर्यादा का उनको किंचित मात्र भी ध्यान नहीं रहता। कृष्ण के पास पहुँच वे कृष्ण से रस-केलि करने की अनुनय-विनय करती दिखाई देती हैं। लौकिक दृष्टि से उनका ऐसा (व्यवहार) कथन अनुचित ही नहीं, किन्तु निन्दनीय भी प्रतीत होता है। कुलवती स्त्रियों का ऐसा आचरण उनके पवित्र चरित्र में धब्बा लगाने वाला गिना जाता है। इतना ही नहीं, रात्रि भर कृष्ण के साथ विहार करना तो उसे अश्लीलता और निर्लज्जता की चरम सीमा तक पहुँचा देता है। यहां कवि ने लौकिक प्रेम के संयोग शृङ्गार का वह स्वरूप दिखलाया है जिसे

साधारण बुद्धि रखने वाला मनुष्य भी पूर्णरूप से समझ सकता है। साधारण दृष्टि की कविता के पढ़ने से आध्यात्मिक पक्ष तो दिखाई ही नहीं देता। यदि हो भी तो वह साधारण व्यक्ति के ज्ञान से परे हैं। अतः यह कविता शृङ्गाररस प्रधान काव्य के रूप में अधिकतर लौकिक पक्ष ही को प्रकट करती हुई प्रतीत होती है।

किन्तु यदि कवि पर सूक्ष्म दृष्टि डाली जाय तो इस कविता में कुछ और ही रहस्य दिखाई देने लगता है। नन्ददास एक धार्मिक कवि थे, कृष्ण के अनन्य भक्त थे। बहुधा यह देखा गया है कि रहस्य-वादी लोग धार्मिक अवश्य होते हैं, और धार्मिकों का भी रहस्य वादी होना संभव होता है। हिन्दी-साहित्य में कबीर, जायसी तथा विद्यापति ठाकुर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नन्ददास की गणना भी उपर्युक्त कवियों में हो सकती है। इनकी कविता में जो तल्लीनता है, जो अभंग रसप्रवाह है, और जो भावों को प्रकाशित करने का ढंग है, वह कवि की कवित्व शक्ति के साथ साथ उसके हृदय की भावुकता, एवं उसकी प्रगाढ़ भक्ति का भी परिचय दिये बिना नहीं रहता। इसलिये "रहस्यवाद" की झलक इस कविता में होना संभव है। यदि रहस्यवाद की दृष्टि से देखा जाय तो समस्त कविता एक रूपक ही (Allegery) प्रतीत होने लगती है। यह कविता केवल "शृङ्गारिक कविता" न रह कर "शृङ्गारिक रहस्यवाद" का उत्तम उदाहरण बन जाती है। रहस्यवाद के अनुसार ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की

गई है, उसी को वैष्णव कवियों ने "माधुर्य रूप" में वर्णन किया है। इस दृष्टि से देखने और समझने से "रासपंचाध्यायी" शृङ्गारिक कविता होने पर भी धार्मिक भावों से पूर्ण कही जा सकती है और उसमें धार्मिक भावों का समावेश स्थान स्थान पर दिखाई देने लगता है।

रहस्यवाद की दृष्टि से कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं और गोपिकायें अनेक आत्मायें हैं, जो उसी ब्रह्म के अंश हैं, पर उसके अलग हो जाने के कारण विरहाग्नि से व्यथित हैं। कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम सांकेतिक (Symbolic) है। ब्रह्म शुद्ध, पवित्र और आनन्दमय है। उसका सौन्दर्य अनुपम है, दिव्य है, और अलौकिक है। उस अनुपम सौन्दर्य की झलक मनमोहिनी आकर्षण शक्ति रखने वाली है। उस दिव्यालोक में साधारण दृष्टि की पहुँच नहीं है। भिन्न भिन्न आत्मायें उसी विशाल आत्मा के अंश हैं। उनका पुरातन रूप वैसाही सौन्दर्यमय और आनन्द पूर्ण है। किन्तु परमात्मा के प्रथक हो जाने के कारण उनका निर्मल स्वरूप माया के आवरण से आच्छादित हो गया है। जिस समय आत्माओं का स्वरूप फिर निर्मल होने लगता है, वे फिर एक बार अपने पुरातन स्वरूप को प्राप्त करने को व्याकुल हो जाती हैं। फिर ब्रह्म की आत्मा में लीन हो ऐक्य भाव को अनुभव करने के लिये उत्सुक हो उठती हैं। उनका परब्रह्म से जो वियोग हुआ था वह स्नेह-निवृत्ति के कारण नहीं, किन्तु अनन्त प्रेम की पूर्णता के कारण हुआ था। इसीलिए वास्तविक रूप की एक बार फिर

झलक पा जाने पर वे अचेत होकर प्रेमाशक्ति से अनन्त प्रेम पथ की ओर अग्रसर हो जाती हैं। अनेक द्रष्टाओं का कथन है कि "प्रेम से संसार की सृष्टि है, प्रेम ही से उसका अस्तित्व है, प्रेम ही की ओर उसकी गति है और प्रेम ही में उसका अन्त है," अतः प्रेम ही ईश्वर की सत्ता है। इसी प्रेम के उत्पन्न होने पर आत्मायें परमात्मा की प्राप्ति की ओर लग जाती हैं। इसी उत्कृष्ट प्रेम को बहुत से भावुक कवियों ने पति-पत्नी के प्रेम के रूप में दर्शित किया है। उनका कथन है कि परमात्मा स्वामी है और अनेक आत्मायें उसकी वधुयें हैं। आत्मारूपी वधू का मुख माया के परदे रूपी अवगुंठन में ढका है। जिस समय वह परदा हटा, और आत्मा ने निष्कपट भाव से अपना सर्वस्व स्वामी को अर्पण किया। उसी समय आत्मा अभिन्न रूप से परमात्मा में लीन हो जाती है। उस संयोग से जो आनन्द, जो सुख और जो शान्ति आत्मा प्राप्त करती है उसका वर्णन करना कवियों की शक्ति से परे है। आत्मा को परमात्मा से पृथक् रहने पर जो तड़पन होती थी वह एक दम लोप हो जाती है। इसी कारण उस दिव्य प्रभा की झलक मात्र दिखलाने को कवियों ने कृष्ण का रूप ऐसा मनोहर अंकित किया है कि उसके अनुपम सौन्दर्य से सभी मोहित हो जाते हैं। गोपियों का प्रेम आत्माओं के अविकल प्रेम का स्थूल आभास है। गोपियों का कृष्ण से मिलन, आत्मा और परमात्मा का मिलाप है। कृष्ण में अभिन्न रूप से लीन हो रसकेलि करने से जो आनन्द और सुख गोपियां प्राप्त

करती हैं वह उस आनन्द और सुख को स्थूल रूप में झलक मात्र है जो आत्मा परमात्मा के समागम से होता है। इस प्रकार समस्त कविता आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण दिखाई देने लगती है।

प्रेम के इस परोक्ष पक्ष को समझने के उपरान्त अब "रास-पंचाध्यायी" के उन भिन्न भिन्न स्थलों को देख लेना आवश्यक है जहाँ कवि का लक्ष्य आध्यात्मिक पक्ष का दिग्दर्शन कराना है। सब से प्रथम कवि कृष्ण के अद्भुत सौन्दर्य का इन शब्दों में परिचय देता है—

"मोहन अद्भुत रूप कहि न आवे छबि ताकी,
अखिल अण्ड व्यापो जु ब्रह्म आभा है जाकी॥

कितना उपयुक्त और साथ ही कितना सच्चा वर्णन है। ऐसे मनोहर रूपवान कृष्ण शरद ऋतु की चाँदनी रात में वंशी वट पर जाकर वंशी बजाने लगते हैं। चारों ओर चंद्रिका का उज्ज्वल प्रकाश छाया हुआ है। जिसके प्रभाव से प्रत्येक वस्तु निर्मल और स्वच्छ रूप धारण किए हुए है। ऐसे समय में साधारण संगीत के प्रभाव का व्यापक और विस्तृत होना संभव मालूम होता है, परन्तु कवि के कृष्ण की मुरली-ध्वनि कोई साधारण ध्वनि नहीं है। वह—

"जाकी धुनि ते निगम अगम प्रगटित नट नागर,
नाद ब्रह्म की जानि मोहिनी सब सुख-सागर॥"

ऐसी ध्वनि का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। गोपियों की उसको सुनकर जो गति होती है उसका कवि इन शब्दों में वर्णन करता है।

" मोहन-मुरली-नाद श्रवन कीनो सब किनहूँ।
यथा यथा विधि रूप तथा विधि परस्यो तिनहूँ॥ "

यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में ईश्वर की प्रेरणा होती है, पर भिन्न भिन्न हृदय होने के कारण उसका उन पर पृथक् पृथक् प्रभाव पड़ता है। जो उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है वह सुगमता के साथ अपने निर्दिष्ट पथ पर पहुँच जाता है। इस संगीत का इतना ही प्रभाव नहीं हुआ किन्तु इसने गोपियों को विकल भी कर दिया। उनकी आत्मायें विह्वल हो उठीं और वे कृष्ण के पास जाने को आतुर हो उठीं। कवि के शब्दों में:—

" नाद-अमृत को पन्थ रंगीलो सूच्छम भारी,
तेहि मग ब्रजतिय चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी।"

" ते पुनितिहि मग चलीं रंगीली तजि गृह-संगम,
जनु पिंजरन ते छुटे छुटे नव प्रेम विहंगम॥ "

कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है। एक एक शब्द एक एक भाव से भरा हुआ है। वास्तव में सच्चे भक्त का प्रेम इतना दृढ़ होता है कि सांसारिक विषय-वासना उसके मार्ग में कुछ भी रुकावट नहीं डाल सकती।

गोपियाँ तो कृष्ण के पास इस आतुरता के साथ पहुँच जाती हैं। किन्तु कृष्ण उनको परीक्षा ही लेते दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान अपने भक्तों में प्रेम की दृढ़ता देखना है। जिसको वह दृढ़ पाता है, आसक्ति रहित हो केवल भक्ति ही में दृढ़ देखता है उसी को अपने में लीन कर लेता है। उसके मिलन के लिये साधारण प्रेम पर्याप्त नहीं है किन्तु सच्चा और शुद्ध प्रेम, जो सर्वस्व प्रभु के अर्पण करा देने वाला होता है। कृष्ण बड़े सीधे शब्दों में यह कहते सुनाई देते हैं—

"हमारो दरस तुमैं भयो अब अपने घर जाउ।"

गोपियाँ यह सुनते ही व्याकुल हो जाती हैं और तत्काल ही यह उत्तर देती हैं—

"नेम-धर्म-जप-तप ये जब फलहिं बतावैं,
यह कहुँ नाहिन सुन्यो जु फल फिर धर्म सिखावैं।"

इतना कह कर ही वे नहीं रुक जातीं। वे प्रेम रस की भिखारिणी हैं, प्रेम के बिना उनके सम्मुख सब कुछ सार-हीन और निरर्थक है। हृदय की यह वह ज्वाला है जो प्रेम के अतिरिक्त और किसी से शान्त नहीं हो सकती, वे कहती हैं—

जो न देउ अधरामृत तो सुनि सुन्दर हरि,
करिहैं यह तन भस्म विरह पावक में गिरि परि।"

कैसा सच्चा भाव है। प्रेम तो केवल प्रेम चाहता है। एक वार जब उस अलौकिक प्रेम का स्वाद मिल चुका है तो अब आत्मा उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छुक नहीं होती है।

कृष्ण जब उनकी प्रेम में दृढ़ प्रतिज्ञाओं के सत्य देखते हैं तो उनपर अपनी कृपा ही करते हैं—

" बिहँसि मिले नँदलाल निरखि व्रजबाल-विरह-बस,
जदपि आतमाराम, रमत भये, परम प्रेम बस।"

गोपियां आनन्दित हो जाती हैं। उनका उस समय का आनन्द अकथनीय है। वे कृष्ण की रस-क्रीड़ा में मग्न हो जाती हैं। यहां कवि बड़े कौशल से उनके समागम को आध्यात्मिक स्वरूप में परिवर्तित कर देता है। उनका प्रेम विशुद्ध है, आध्यात्मिक है। उनका समागम पवित्र है, दिव्य है। कवि उस के सच्चा स्वरूप का इन शब्दों में वर्णन करता है—

" निरखत ब्रज बधु संग रंग भीने किसोर तन,
हरि मन्मथ को मथ्यो उलटि वा मन्मथ को मन "।

कवि ने स्पष्ट बतला दिया है कि उस संयोग में सांसारिक वासना या अपवित्रता नहीं है। वह परम पवित्र है। गोपियां भी कृष्ण की असीम अनुकम्पा से अपने आप को धन्य मानती हैं। किन्तु अपनी इस उच्च स्थिति से उनके हृदयों में शनैः शनैः गर्व अंकुरित होने लगता है। यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान को गर्व नहीं भाता। तुलसी दास ने भी कहा है कि "मान गोविन्दहि भावत नाहीं"। भगवान अपने भक्त को चाहे कितना ही प्रिय क्यों न हो, यदि उसका हृदय गर्व पूर्ण है अपने पास रहते हुए भी बहुत दूर कर देते हैं। इसका प्रमाण यहां भी अच्छी तरह से दृष्टि-गोचर होता है। गोपियां गर्व से भर जाती हैं।

कृष्ण भी तत्काल अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। कृष्ण को कहीं भी न पा कर वे विलाप करने लगती हैं। उस अवस्था में वे प्रेमाकुल हो वन में घूमने लगती हैं। प्राकृतिक सहानुभूति चाहती हैं और उस समय प्रेम की अनंतता और वस्तुओं से व्यापकता को दिखाती हैं। सीता की विरह में जिस प्रकार रामचन्द्र के वचन सुन पड़ते हैं, वैसे ही यहां भी सुनाई देने लगते हैं।

"अहो असोक हरि सोक लोक मनि पियहि बतावहु,
अहो पनस सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु।"

इतना ही नहीं, उनका प्रेमोन्माद और अधिक बढ़ जाता है। वे कृष्ण की अनेक लीलाओं को याद करते करते अपने को कृष्ण से अभिन्न सोचने लगती हैं। उनकी उस तन्मयता का वर्णन कवि कितने उपयुक्त शब्दों में करता है—

"भृंगी भृंग है जाय आय यह कीट महर जड़,
कृष्ण प्रेम तें कृष्ण होय कछु नहिं अचरज बड़"।

इस प्रकार विलाप करती हुई गोपियां उस ब्रह्म के सामीप्य की आकांक्षा में उद्विग्न हो घूमती फिरती हैं। उनको अत्यन्त विकल देख और उनका गर्व चूर्ण कर कृष्ण फिर उनके मध्य में आ विराजते हैं। इस प्रकार गोपियां अपने अविचल प्रेम-भाव से कृष्ण को प्राप्त कर लेती हैं। कृष्ण उनको पूर्ण आनन्द देने के लिये रासलीला आरंभ करते हैं। रासलीला के समय जिस आनन्द का अनुभव होता है वह उसी आनन्द की झलक है अथवा वही

आनन्द है जिसे आत्मा परमात्मा में लीन हो कर प्राप्त करती है। उस अलौकिक आनन्द का कवियों की कवित्व शक्ति के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह वर्णन करने का विषय ही नहीं है, केवल अनुभव करने ही का है। आत्मा उस समय अपने बिछुड़े हुए प्रियतम से मिल प्रेम पूर्वक ऐक्यभाव स्थापित कर लेती है। यह वह मिलन है, यह वह समागम है जहाँ आत्मा अभिन्न रूप में परब्रह्म में लीन हो अपने अशान्त और संतप्त हृदय की तपन बुझा कर शान्ति पा जाती है। रासलीला में मग्न गोपियाँ और कृष्ण उसी मिलाप की अनुभूति करने लगते हैं और स्वर्गीय आनन्द के सागर में डूबने लग जाते हैं। उनके उस आनन्द को देख चर, अचर, जड़ और चेतन सब स्तंभित हुए से दिखाई पड़ने लगते हैं। यहाँ तक कि—

"पवन थक्यौ ससि थक्यौ, थक्यौ उड़ मंडल सगरो।
पाछे रवि रथ थक्यौ, चल्यौ नहिं आगे डगरो॥"

इतना ही नहीं—

"सिला सलिल ह्वै चलीं सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।"

धन्य है उस प्रेम को, जिसका प्रभाव इतना व्यापक और विस्तृत है। वास्तव में वह सुख अपूर्व वह मिलन अनोखा और वह आनन्द अलौकिक ही है। हम उसकी झलक मात्र देख सकते हैं, या उसका अनुमान कर सकते हैं, किंतु उसकी वास्तविक अनुभूति कलुषित हृदय को रखते हुए हमें सर्वथा असंभव ही है।

अतः यह स्पष्ट है कि कवि का लक्ष्य केवल शृङ्गारिक काव्य रचने का ही न था, आध्यात्मिक पक्ष भी उतनी ही मात्रा में उसके ध्यान में उपस्थित था। कई स्थल यद्यपि ऐसे भी हैं जहां शृङ्गारिक भाव ही प्रधान हो जाते हैं और बड़ी कठिनाई के साथ पाठक उसके आध्यात्मिक पक्ष को स्वीकार करते हैं, किन्तु तो भी—शृङ्गार रस के प्रधान होने पर भी—कविता में धार्मिक भावों का समावेश बराबर पाया जाता है और उसमें आध्यात्मिक पक्ष दिखाई देने लगता है।

[Bhramar Gita is a philosophic poem.]

"भ्रमरगीत" में नन्ददास ने गोपियों के उपालंभ का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण मथुरा चले गये हैं। गोपियां उनकी विरह से व्याकुल हैं, तो भी वे कृष्ण के ही ध्यान में मग्न हैं, उन्हीं के प्रेम में तल्लीन हैं, और उन्हीं के दर्शन के लिये लालायित हैं। कृष्ण भी गोपियों को याद करते हैं, किन्तु वे कुछ सोच विचार कर अपने मित्र ऊधो को ज्ञानोपदेश देने के लिये ब्रज भेजते हैं। प्रेमासक्त गोपियां अपने भक्तिपूर्ण उद्गारों से ज्ञान की निस्सारता को सिद्ध कर दिखाती हैं। वे प्रेम का वह स्वरूप दिखलाती हैं जिसके कारण उसका स्थान ज्ञान से भी बढ़कर उत्तम हो गया है। साधारणतया देखने से 'भ्रमरगीत' वियोग शृङ्गार का जीता जागता उदाहरण है। अपने प्रेमी के वियोग में सांसारिक प्रेमिकाओं की जो अवस्था होती है उसका इसमें सच्चा चित्र है। किन्तु कवि को केवल वियोग शृङ्गार का चित्रण करना ही अभीष्ट

न था। उसकी प्रतिभा ने सारी कविता को दार्शनिक भावों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। कविता के एक एक पद में उच्च तत्वज्ञान भरा हुआ है। इसमें कितने ही जटिल विषयों की व्याख्या है। ज्ञानमार्ग, कर्मकांड, भक्ति-मार्ग, निराकार ब्रह्म तथा साकार भगवान का यथातथ्य निरूपण किया गया है। ऊधो और गोपियों के वाद-विवाद से सब मार्गों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया गया है। प्रधानतया यही सिद्ध किया है कि भक्ति-मार्ग ही सब से श्रेष्ठ, सब से सुलभ और सब से अधिक हृदयग्राही है। किन्तु इतने जटिल विषयों की व्याख्या करते हुए भी कवि, कवि ही बना रहा है, उसने उपदेशक या दार्शनिक का आसन ग्रहण न करके कवि ही बने रहते हुए उपरोक्त विषयों का दिग्दर्शन कराया है। गहन से गहन विचारों को इतनी सरस और काव्य मयी भाषा में उसने व्यंजित किया है कि समस्त कविता तत्वज्ञान से पूर्ण रहने पर भी मनोरंजक काव्य के रूप में ही दिखलाई पड़ती है।

कविता के आरम्भ में ही गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में मतवाली दिखाई देती हैं। ब्रह्म का अलौकिक सौन्दर्य तो दूर रहा, कृष्ण का स्वरूप ही अपनी मोहिनी छवि से गोपियों के हृदयों को चुरा चुका है। ऊधो भी उनको "प्रेम धुजा" और 'रसरूपिनी' कह कर संबोधित करते हैं। श्याम-सन्देश सुनाने की प्रार्थना करते हैं। "श्याम" इस शब्द के सुनते ही गोपियाँ प्रेम में गद्‌गद हो जाती हैं। उस प्रिय नाम से उनके शरीर में रोमांच हो आता है, प्रेम तीव्र गति से

उमड़ पड़ता है और वे अचेत हो उसी में डूबने लगती हैं। श्याम की स्मृति गोपियों के व्यथित हृदय को और भी यंत्रणामय बना देती है। उनकी दशा ऊधो को सच्चे और दृढ़ प्रेम का दर्शन करा देती है। ऊधो उनकी ऐसी अवस्था देख अपने ज्ञानोपदेश का अच्छा अवसर समझते हैं और ज्ञान-मार्ग समझा कर उनको शान्ति देने की चेष्टा करते हैं।

सब से पहिले ऊधो ज्ञान-मार्ग का निरूपण करते हैं। ज्ञान के द्वारा ऊधो गोपियों को ब्रह्मरूप कृष्ण का बोध कराने की चेष्टा करते हैं। ऊधो समझाते हैं कि ब्रह्म सर्वव्यापक है वह किसी देश या काल से बद्ध नहीं है। समस्त विश्व ही ब्रह्ममय है। दृश्य जगत की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में भी उसी अनन्त ब्रह्म का अस्तित्व है। सारा विश्व उसी ही की सत्ता है। चर अचर, जड़ और चेतन सभी उस परम ज्योति के अंश हैं और उसी की शक्ति से शक्ति शाली हैं। यहां पर कवि ने अनेकत्व में एकत्व (Unity underlies diversity) का सिद्धान्त सिद्ध कर दिखाया है। प्रकृति अथवा समस्त विश्व उसी व्यक्त का स्वरूप है। किन्तु साधारण दृष्टि से देखने से मनुष्य उस ब्रह्म की इस सत्ता से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। अज्ञानता की बेड़ी में जकड़े रहने से उसके पास रहते हुए भी उस अलौकिक स्वरूप का दर्शन उसे नहीं होता। माया के वशीभूत होने के कारण वह आत्मा और पर-मात्मा में सदैव भेद ही देखता है और इसी कारण उसके विराट स्वरूप को वह नहीं समझ सकता। वेदान्त-मत के अनुसार

कवि दिखाता है कि आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का अनुभव कर लेना ही सच्चा ज्ञान है, और उसी ज्ञान की प्राप्ति में सच्चा आनन्द है। आत्मा को माया के आवरण से विमुक्त कर, उसे निर्मल और पवित्र बनाकर ही मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है और फिर अपने ज्ञान-चक्षु से भगवान के विश्वमय रूप को उसके वास्तविक स्वरूप में अनुभव कर सकता है। ज्ञान द्वारा ब्रह्म का स्वरूप दिखाई नहीं देता किन्तु उसकी अनुभूति होती है। शब्दों द्वारा उसकी व्याख्या करना भारी भूल है। कवि कितने थोड़े और सरल शब्दों में इस गूढ़ विचार को दर्शाता है—

"वै तुम तैं नहिं दूरि ज्ञान की आँखिन देखौ,
अखिल विश्व भरिपूरि विश्व अब रूप विशेख्यौ।"

बिना ज्ञान प्राप्त किये मनुष्य इस ब्रह्म-स्वरूप का अनुभव करने में सर्वथा असमर्थ है। अतः ब्रह्म चिंतन का विषय और, अनुभूति करने की वस्तु है। इस कारण वह ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है, नित्य है, तथा अनन्त है। वह स्वयं अनादि और अनन्त है, किन्तु समस्त विश्व उसी की रचना है, उसी का अंतिम आश्रय है। वह अव्यक्त है, अगम है, गुणातीत है और किसी का मुख्य संबन्धी नहीं है। उसके लिये सब समान हैं, न कोई उसके माता है न पिता है और न कोई सखा हैं। सब आत्मायें उसी महान् आत्मा के अंश हैं। गुणों से रहित ब्रह्म का वेद और उपनिषद् भी "नेति नेति" कह कर गान करते हैं। जिस किसी ने सौभाग्य से उसकी अनुभूति कर भी ली है, वह भी शब्दों के द्वारा उस आनन्द

के बतलाने में असमर्थ ही रहा है। इंद्रियों के द्वारा उसकी अनुभूति करना असंभव है। मनुष्य अपनी आत्मा के सत्यस्वरूप में उस ब्रह्म का सामीप्य, ज्ञान द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। अतः ब्रह्म को जानने के लिए ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य साधन है। उस ज्ञान की प्राप्ति योग के द्वारा हो सकती है। इन्द्रियों का दमन कर एकाग्र चित्त से ध्यान करना, शरीर को कष्ट दे नाना प्रकार की तपस्यायें करना तथा ध्यानावस्थित हो चिंतन करना ही जीवन का ध्येय है।

इसी के अंतर्गत कवि कर्मकाण्ड की मीमांसा करता है। इसके द्वारा कवि ने दिखलाया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने दैनिक कर्मों को करते हुए ही ब्रह्म को पा सकता है। कर्म-मार्ग बहुत सरल है, यही एक सुगम साधन है। संसार कर्म क्षेत्र है, इसलिये इसमें निष्क्रिय हो कर कोई भी नहीं रह सकता। जब मनुष्य कामना-रहित हो कर्म करने लगता है तभी उसका संकुचित हृदय उदार और विशाल बन जाता है। यह "मेरा कर्तव्य है" ऐसा सोच कर दृढ़ता के साथ कर्म करने से मनुष्य कर्मों से मुक्त हो मुक्ति लाभ कर लेता है। जब कर्तव्य समझ कर मनुष्य कर्म करेगा तब उसे कर्म के फल की इच्छा न रहेगी और इस इच्छा से रहित हो कर कर्म करने से उसे सत्य ज्ञान हो जायगा। उसका द्वैतभाव जाता रहेगा। वह समस्त कर्म ईश्वर को अर्पण करने के निमित्त करेगा। तब उसकी आत्मा विशाल और उदार बन जायगी। बुद्धि निर्मल और पवित्र हो जायगी और तब मनुष्य

अपने को परमात्मा में ही रमा हुआ देखेगा, उसे उस समय अलौकिक आनन्द मिलेगा। इसी के साथ साथ कर्म-काण्ड का एक और विशेष अंग दिखलाया गया है। ब्रह्म का चिंतन कर समाधिस्थ हो मानसिक क्रियाओं के द्वारा इसकी प्राप्ति हो सकती है। आत्मसंयमी हो शनैः शनैः मनुष्य अपने शरीर को ध्वंस कर चिंतन के द्वारा ब्रह्म को पा लेता है। इसको कवि इन शब्दों में दिखलाता है—

" ब्रह्म अगिन जरि, शुद्ध ह्वै सिद्धि समाधि लगाय।
लीन होय सायुज्य में जोतिहि जोति समाय॥
सुनो ब्रजनागरी "

इसके अतिरिक्त कवि माया-वाद की ओर भी झुकता है, और बताता है कि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह उस ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है। हमारे और ब्रह्म के बीच में माया का आवरण है, जिसका गुण, और स्वरूप ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। माया के गुणों से वेष्टित आत्मा, परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख सकती। अतः ज्ञान के द्वारा उस पर्दे को हटाना ही मुख्य उद्देश्य है। माया और ब्रह्म के गुणों की भिन्नता, उनको प्रथक कर ठीक ठीक जान लेना ही उचित है। उनके जान लेने पर ही आत्मा अनेक प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जायगी। इसलिए प्रेमासक्त गोपियां जब ब्रह्म के सच्चे स्वरूप को जान जायेंगी तब उनकी वेदना क्षण मात्र में दूर हो जावेगी। यही ऊधो का विचार है।

गोपियों को ऊधो का सारा ऊर्मित उपदेश निस्सार मालूम होता है। प्रेम के संमुख वे किसी भी मार्ग का आधिपत्य सहन नहीं कर सकतीं। वे अपनी असीम भक्ति से ऊधो को भक्ति-मार्ग की प्रभुता, और उसकी श्रेष्ठता इतने सच्चे रूप में दिखला देती हैं कि ऊधो भी चुपचाप उसे स्वीकार कर लेते दिखाई देते हैं। गोपियाँ सच्चे भक्तों की प्रतिमायें हैं, वे प्रेमरस की भिखारिनियाँ हैं, सगुण-रूप की उपासिकायें हैं। उनके आराध्य देव अनुपम-रूप और गुणों से भूषित हैं। ब्रह्म के अनन्त सौन्दर्य से उत्पन्न उनकी भक्ति सब से अधिक बलवती है, जिस दिव्य सौन्दर्य ने उनका मन हरा है उसी के पाने की उन्हें चाह है, इसीलिये ऊधो के वचन सुनते ही वे कह उठती हैं—

"कौन ब्रह्म की जोति, ज्ञान कासों कहौ ऊधो,
हमरे सुन्दर श्याम, प्रेम को मारग सूधो।"

"सुधि बुद्धि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय"

कितने सच्चे और सरल भाव हैं! प्रेम हृदय और हृदय के बीच का संबन्ध है, वह प्रेमी हृदय को पा कर ही शान्ति प्राप्ति कर सकता है। प्रेम का कितना सीधा मार्ग है। सरलहृदया गोपियाँ प्रेम में सर्वस्व हार चुकी हैं। उनमें ब्रह्म-ध्यान करने की अनुरक्ति नहीं है, अनुभूति करने की भी शक्ति नहीं हैं। दिव्य सौन्दर्य ही उनके मन को आकर्षित करने में पर्याप्त है। कृष्ण ही उनके जीवन के प्रिय सहचर हैं, वे उनके दुःख में दुखी और

सुख में सुखी हैं। ऐसे ब्रह्म के मनोहर रूप और उसके गुणों पर रीझ कर प्रेम करना एक बहुत ही स्वाभाविक भाव है। वे सांसारिक संबन्धों से परिचित हैं और संबन्ध के अनुसार सब से प्रेम करते पाये जाते हैं। इसलिये सगुण ब्रह्म की आराधना करना सब के लिये सुगम है। गोपियाँ एक और सिद्धान्त भी बतलाती हैं। वे कहती हैं "कर्म धूरि की बात कर्म अधिकारी जानै," इन सीधे सादे शब्दों में वे दिखलाती हैं कि स्त्रियों को बहुत से कार्यों में भाग नहीं मिलता, वे उनकी अधिकारिणी भी नहीं कही जातीं, पर प्रेम में उनका समान भाग है। वे कहती हैं—

"प्रेम सहित हम पास श्याम सुन्दर गुन गावै।"

"प्रेम पियूषै छाँड़ि कै कौन समेटै धूर"

इस प्रकार वे प्रेम के संमुख सब को तुच्छ बताती हैं। साथ ही यह भी दिखलाती हैं कि कामना-रहित हो कर्म करना कठिन ही नहीं वरन् बहुतों के लिये असंभव भी है। इस कारण कर्म-मार्ग से मनुष्य ब्रह्म के सामीप्य के बदले अपनी असाध्यता से उससे और भी दूर हो जाता है। वह सांसारिक विषय-वासना के चंगुल में फँस जाता है। चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ, दोनों ही बंधन-स्वरूप होते हैं, अतः वे मनुष्य की आत्मा को उतना उदार और विशाल नहीं बना सकते जितना प्रेम कर सकता है। इसके विपरीत यदि प्रेम एक बार हो गया तो वह शनैः शनैः उपासक और उपास्य देव को एक ही में अभेदरूप से लीन कर देता है।

ईश्वर की सत्ता का सार प्रेम है, वह स्वयं प्रेममय है, भगवान अपने भक्तों को ज्ञानियों की अपेक्षा अधिक प्रेमी समझते हैं, इस की सत्यता कवि ने बड़ी मनोहरता से दिखलाई है—

"ऊधो सों मुख मोरि के कहि कछु उनतें बात,
प्रेम अमृत मुख ते स्रवत अम्बुज नैन चुचात।
तरक रस रीति की"

कैसी उच्च भावना है। कितनी उपयुक्त व्यंजना है। ऊधो से "मुख मोरि" गोपियों को बात करने का कैसा सच्चा भाव है। प्रेम ही वह आकर्षण शक्ति है जिससे एक हृदय दूसरे हृदय का मूक आह्वान करता है। भाषण करते हुए भी वही पीर है, वेदनामय होने पर भी शान्तिमय प्रेम है। मनमोहन की मोहनी मूर्ति देख गोपियों के हृदयोद्गार उमड़ पड़ते हैं। वे उपालंभों की झड़ी बांध देती हैं। पिछली कीड़ाओं की याद दिलाती हैं और उपालंभ भरे वक्र शब्दों से उनका हृदयस्पर्शन करती हैं। किस प्रकार सैकड़ों उपासकों का एक उपास्य देव होता है उसको बतलाती हुई वे कह डालती हैं "हमको तुमसे एक हैं तुमको हमसीं कोरि" अनेक प्रकार के उपालंभ देकर वे प्रेम-प्रवाह में बहने लगती हैं। उनके असीम प्रेम को ऊधो भी पहचान जाते हैं। क्योंकि—

देखत इनको प्रेम-नेम ऊधो को भाज्यौ।

इतनाही नहीं वे भी उसी पक्ष को स्वीकार कर लेते हैं—

याही ते मैं मन शुद्ध है दुविधा ज्ञान मिटाय,
मेटि मत ज्ञान को।

इस प्रकार कवि ने भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध कर दिखाई है। भक्ति-मार्ग ही में भगवान के हृदय की पूर्ण भावना प्रकट होती है। अंत में कृष्ण स्वयं दिखला देते हैं कि पृथक् पृथक् शरीर रहने पर भी भगवान के हृदय से भक्त और भक्त के हृदय से भगवान अलग नहीं हैं। उपासक और उपास्यदेव के हृदय परस्पर प्रेमपाश से गुंथे रहते हैं और अभेद रूप से दोनें एक दूसरे में लीन रहते हैं—

"मो में उनमें अन्तरो एकौ छिन भरि नाहिं,
ज्यें देखो मो माहिं वे, तो में उनहीं माहिं
तरंगनि वारि ज्यें।"

इतने जटिल गंभीर और गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए भी "भ्रमर गीत" कवि की प्रतिभा से सरस-काव्य ही बना रहता है। कवि ने इस बात को अच्छी तरह पहचान लिया है कि कवि का काम शिक्षा देना या पथ प्रदर्शन करना नहीं, उसका काम तो भावें को जाग्रत कर शक्ति सम्पन्न करना है। इसी कारण भ्रमरगीत में तात्विक सिद्धान्तों और गंभीर विचारों का समावेश करते हुये भी कवि ने सौन्दर्य की सृष्टि कर कविता को कविता ही रक्खा है। कविता के पढ़ने से आनन्द का उद्रेक होता है। प्रतिपादित विषय पर ध्यान न जाकर पढ़ने वाले कविता की सुन्दरता, और उसकी मधुर मनोहारिता पर ही मुग्ध होते हैं। कवि ने जो कुछ भी कहा है वह स्वाभाविक रीति से कहा है, मनोहारिणी उक्तियों में कहा है, मधुर कविता के रूप में कहा है, यही प्रथम देखते एवं परखते हैं।

हिन्दी-साहित्य की विचार-धारा

[लेखक-श्रीरमाशंकर शुक्ल बी० ए०]

किसी जल-प्रपात के निकट जाकर देखिये। उसकी धारा कितनी तीव्र और प्रबल होती है; हहराता हुआ जल-स्रोत कितना भीषण किन्तु सुन्दर प्रतीत होता है। बहुधा यही जल-स्रोत किसी नदी के उद्गम रूप में प्रारम्भ में विस्तृत न होने पर भी आगे चल कर कितना विस्तीर्ण, मन्द और शोभाशाली हो जाता है। निस्सन्देह प्रकट होने के पूर्व वह किसी अचल के अञ्चल में छिपा हुआ शक्ति-सञ्चय करता रहता है। अवसर आते ही वह हृदय खोल कर अजिर गति से प्रधावित होने लगता है।

हिन्दी-साहित्य, विशेषकर हिन्दी-काव्य का उद्गम भी कुछ इसी प्रकार का है। सरिता-स्रोत की भाँति इसका प्रारम्भिक क्षेत्र विस्तृत नहीं है; किन्तु उसकी धारा की भाँति इसका प्रवाह तीव्र है इसमें शक्ति और वेग दोनों ही हैं। इस काव्य में युद्धों की भीषणता भी है और प्रेम का मृदु सौंदर्य भी। यह भी प्रतीत होता है कि जो साहित्य उस समय प्रकट हुआ है वह अलक्ष्य भाव से शक्ति प्राप्त करता रहा है। हमारी धारणा है कि चंद के पूर्व हिन्दी-कविता की सृष्टि हो चुकी थी, भाषा में भावों को

प्रकट करने की क्षमता आ चुकी थी और हिन्दी काव्य-प्रणाली भी अपना रूप किसी अंश में पा चुकी थी।

हिन्दी के साहित्य-युग का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकट हो चुके हैं और इतिहासकार अभी खोज में लगे हैं। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे यही निष्कर्ष निकाला गया है कि इस युग का आरम्भ विक्रम की बारहवीं शताब्दी से होता है। किन्तु इसके पूर्व भी हिन्दी में रचना हुई थी, यह एक तो इसी आधार पर कहा जा सकता है कि चंद के पूर्व भी कुछ रचना करने वालों के नाम पाये गये हैं, यद्यपि दुर्भाग्य से उनकी कोई रचना प्राप्य नहीं है। फिर, दूसरी बात यह है—और हमारी दृष्टि में यह स्वाभाविक है—कि चंद ने अपने काव्य में जिस स्थिर प्रणाली का अनुसरण किया है, उसकी स्थापना अवश्य ही पहले हो चुकी थी। चंद का काव्य उसी का विकसित रूप है। अतः आज यदि चंद के आधार पर हम हिन्दी-साहित्य का आरम्भ १२ वीं शताब्दी से मानते हैं, तो इसे हम सहज में ही एक शताब्दी पीछे हटा सकते हैं। अतः हम १० वीं शताब्दी के अन्त अथवा ११ वीं शताब्दी के आरम्भ ही से हिन्दी-साहित्य का रचना-काल मानते हैं।

इस युग के साहित्य में चारण-काव्य की प्रधानता है। इसके रचयिताओं में चंद की भाँति प्रतिभाशाली, और राजमदयुक्त कवि भी थे, और नरपति तथा नल्हसिंह जैसे साधारण योग्यता वाले भी। किन्तु थे ये सब राजाओं ही के आश्रित और इनका काव्य

भी उन्हीं के नाम पर हुआ है जैसे, खुमानरासै, सामन्तसार, पृथ्वीराज रासै, बीसल देव रासै, विजयपाल रासै, हम्मीर रासै आदि। जैसी आशा की जाती है इन काव्यों में राज-यश वर्णन होना स्वाभाविक ही है। परन्तु आज हमारे लिये ये काव्य राजाओं के यशोगान किम्वा उनके युद्ध-वर्णन की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं। उन राजाओं की आज कोई याद भी नहीं करता; परन्तु ये कवि सदैव हमारे सामने रहेंगे और इनके काव्यों से हम राजनीति के इतिहास की उतनी सामग्री ग्रहण नहीं करेंगे, जितनी इस काव्य-साहित्य के विकास के लिये और तत्कालीन विचार-धारा के निर्णय के लिये ग्रहण करेंगे।

जिस युग की हम आलोचना कर रहे हैं। वह भारतवर्ष के लिये संघर्ष का समय था। एक ओर बाहरी शक्ति का आक्रमण हो रहा था और दूसरी ओर उत्तर भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। दिल्ली का प्राचीन और विशाल हिन्दू-साम्राज्य मानो दुर्बल होकर मृत्यु को आमन्त्रण दे रहा था। राजाओं में बलवीर्य था, साहस और शूरता की भी कमी न थी; उनके सामन्त भी राजभक्त और स्वामिभक्त थे, जन-साधारण से भी वीरता लुप्त न हो गई थी। तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार सजग रहने के कारण उनमें आत्मरक्षा का थोड़ा बहुत सामर्थ्य अवश्य था। जिस समय एक दूसरी शक्ति के सम्मुख भारतीय-सम्मान तथा वीरता के आदर्श को अक्षुण्ण रखने का प्रश्न था उस समय चंद जैसे कवियों का आविर्भाव बहुत ही आवश्यक था।

इस बात की ज़रूरत थी कि विदेशी आक्रमण की अँधियारी में कोई इन भारतीय नरेशों की वीरता और हिन्दु-साम्राज्य की विशालता की ज्योति बनाये रखता। इन चारणों ने ऐसा ही किया। चंद की प्रौढ़ काव्य-रचना आज भी हमें वीरता के उस युग का स्मरण दिलाती है।

यहाँ पर अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस युग के हिन्दी-साहित्य का अर्थात् हिन्दी-काव्य का आदर्श वीर-पूजा तो नहीं है? वीर-पूजा का भाव नया नहीं है। सभ्यता के आदि युग में वीर-पूजा के स्वाभाविक उल्लास ने तो नहीं किन्तु वीरों के बल-वैभव ने जातियों का संगठन किया और छोटे छोटे राज्यों की स्थापना की। विशिष्ट वीर का आचरण ही उसे सर्वोपरि बना देता है; तब कुछ तो आतङ्क के कारण तथा अन्य कतिपय वीरता के सम्मान के भाव से उस वीर की पूजा करने लगते हैं और उसी में मनुष्यत्व के सभी गुणों का विकास पाते हैं। उनकी यह भावना धीरे धीरे दृढ़ होती जाती है। वे उसके आधीन हो जाते हैं, संकट में वे इसी शक्ति की सहायता पर विश्वास रखते हैं; युद्ध में इसी की विजय की कामना करते हैं और संक्षेप में उनके समय के सर्वश्रेष्ठ गुण मानो उसी वीर में कान्ति हो जाते हैं।

यह भावना सब समय नहीं रहती। धीरे धीरे वीरता का स्थान राज्यशक्ति ग्रहण कर लेती है और अपने प्राचीन विश्वास के अनुसार लोग सर्वोपरि सत्ताधीश होने के कारण राजा के

गुणों की परख किये बिना ही उसका यशोगान करने लगते हैं। राज्यशक्ति के व्यतिरिक्त मानों वीरों का अस्तित्व ही मिट जाता है। चंद का वीर नायक पृथ्वीराज था। वह सचमुच वीर था। उसके सामन्त भी वीर थे। युद्धों में वे बहादुरी के साथ लड़े और अपने प्राण दिये। पृथ्वीराज रासो में इस वीरता का विशद वर्णन है। फिर भी हमें सन्देह है कि इन काव्यों के लिखते समय कवियों के हृदय में वीर-पूजा की भावना उत्पन्न हुई थी। राज्य-शक्ति का कारण जितना प्रबल था, वीर-पूजा का भाव उतना नहीं। चंद के ग्रंथ में बहुधा अन्य वीर-गाथाओं में भी सर्वत्र अनेक निरर्थक वर्णन हैं और वीर यश-गान चाटुकारी की सीमा तक जा पहुँचा है। यह सच है कि कवि अपना आदर्श स्वयं खोज निकालते हैं। उस समय वे यह नहीं देखते कि अमुक राजा है या नहीं। सच्चे गुणों की परख ही उनका लक्ष्य रहता है। किन्तु इस युग के कवि इस आदर्श से दूर थे। राजाश्रय पाकर वे अपने स्वामी की यथा तथा गुणावली गान करना ही अपना कर्तव्य समझते थे और इस दशा में वे अपने नायक में अनेक गुणों का मिथ्यारोपण कर देते थे। महज़ कविता की दृष्टि से यह कोई बुरी बात न थी।

यदि कहा जाय कि आदर्श-चरित्र की संसृष्टि ही इन कवियों का उद्देश्य था तो यह बात भी बहुत कुछ असत्य प्रतीत होती है। एक पृथ्वीराज रासो ही को लीजिये। पृथ्वीराज की वीरता सचमुच आदर्श थी। यदि रासो में केवल युद्ध वर्णन होता—

इसमें पृथ्वीराज के गृहस्थ-जीवन का चित्र न होता तो किसी प्रकार यह आदर्श मान लिया जाता। फिर, युद्धों में जो युद्ध केवल स्त्रियों के लिये हुए हैं उनका वर्णन निरर्थक था अवाञ्छनीय था। पृथ्वीराज का जो श्रेष्ठ वीरत्व गोरी से युद्ध करने में प्रकट होता है—वह जिस उत्साह और वीरता से विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करता है—वह हमारे लिये गौरव और अभिमान की वस्तु है। किन्तु दस दस विवाह करने वाले और केवल इन विवाहों के कारण फूट तथा भावी विनाश का गहरा बीज बोने वाले पृथ्वीराज का यह रूप सचमुच अश्रेयस्कर है। ऐसी वीरता से देश का कोई भला नहीं हुआ—न हो सकता है। बीसलदेव रासो में भी इसी प्रकार किसी आदर्श-चरित्र की संसृष्टि नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों का उद्देश्य वीर-गाथा के नाम पर जैसा-तैसा चरित्र प्रस्तुत कर देना ही था। विशेषता यही होती थी कि उसमें वीरता का बहुलता से वर्णन कर दिया जाता था। बस हो चुका।

यह कहना सर्वथा सत्य नहीं है कि इन वीर-गाथाओं से वीरता के भाव टपके पड़ते हैं। ये वीरों की गाथाएँ हैं—वीरता की नहीं। वीर समय पर वीर हो सकते हैं और दूसरे अवसरों में साधारण मनुष्य की भांति कामुक और बुद्धि-हीन। यही देखा भी जाता है। जिस पृथ्वीराज को हम समय पर इतना बहादुर पाते हैं वहीं, दूसरी ओर, उसकी विषय-लालसा बढ़ती जाती है। इन वीर-गाथाओं में शृङ्गार भी और खूब है। चंद की कविता कर्कश

अक्षरों से हृदय में जहाँ कठोरता पैदा करती है वहीं उसकी काव्य-धारा से शृङ्गार का उल्लास भी उठता है। और आश्चर्य तो इस बात का है कि चंद ने अपने मित्र फिर भी स्वामी की रानियों तथा बहिन तक का नख-शिख लिख डाला है। ये हैं वीर-गाथा की वीरता के भाव।

जातीयता जिसे आज राष्ट्रीयता कहते हैं, उस समय मौजूद हो ही कैसे सकती है जब राष्ट्रीयता के परमोपासक इस पाश्चात्य युग में भी यहाँ उसका अभाव देखा जाता है। इतिहासकार सिद्ध करते हैं कि भारत एक राष्ट्र था और उसमें वैसी ही राष्ट्रीय भावना थी। ठीक है, किन्तु जिस युग का हम उल्लेख कर रहे हैं उस समय एक राष्ट्रीय भावना या तो प्रादुर्भूत नहीं हुई थी और यदि हुई भी थी तो लुप्त हो गई थी। ऐसी दशा में हमारे इन कवियों ने इस युग में एक भी पद्य ऐसा नहीं लिखा है जो हिन्दू जाति को उसके स्वरूप का ज्ञान कराता अथवा उन्हें उद्बोधन दे कर सुसंगठित करता। कवियों ने इस भाव की प्रायः उपेक्षा ही की है। उस परिस्थिति को देख सुन कर और लोग मन मार कर बैठ रहते थे, चंद ने अपने काव्य सामर्थ्य से उन लीलाओं को छन्दोबद्ध कर डाला। और लोगों की बातें उनके साथ चली गईं। चंद आज भी विद्यमान हैं। सच तो यह है कि इन काव्यों में तत्कालीन समाज का तो नहीं किन्तु राजाओं का जीता जागता चित्र अङ्कित है। फुरसत के समय शिकार खेलना, और सौन्दर्य पर रीझ कर कामुक

बन जाना तथा समय पड़ने पर युद्ध कर लेना—यही राजाओं का जीवन था। इन काव्यों को पढ़ कर जहाँ एक ओर इनकी शूर वीरता पर मुग्ध होना पड़ता है वहीं दूसरी ओर उनके और उनके साथ हिन्दू जाति के गिरते हुए भावों का भी एक अस्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। कवियों ने इस प्रकार अपनी शक्ति को वर्णनात्मक विषयों की ओर लगा दिया और यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से प्राचीन हिन्दी-साहित्य के लिये उनकी रचनायें ग़नीमत हैं परन्तु साहित्य की यह विचार-धारा निर्मल नहीं है। अभी उसका प्रारम्भ ही है अतएव यह बात भी संभवतः उपेक्षणीय हो सकती है। इन गाथाओं में हिन्दू-युग का डूबता हुआ चित्र अङ्कित है, जो उस काल की वीरता का भी स्मरण दिलाता है और साथ ही यह भी संकेत करता जाता है कि इस वीरता का अधःपतन हो रहा है। चंद हिन्दू-साम्राज्य के अन्तिम कवि थे।

संक्षेप में हम देखते हैं कि चंद और उनके परवर्ती कवियों के द्वारा रचित रासो ग्रंथों में बदलते हुए युग की झलक है। आदर्श चरित्र को प्रस्तुत करने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। यश-वर्णन में वीर पूजा का भाव नहीं है वरन् स्वामित्व का है। राजा समझ कर ही प्रायः उनका कीर्ति-वर्णन हुआ है। यद्यपि काव्य के पढ़ने से हिन्दू-साम्राज्य के संकट के साथ सहानुभूति उत्पन्न होती है और हृदय में जातीय भावना का जोश मिलता है परन्तु जातीय गौरव की यह झलक स्वयं ही प्रकटित होती

है। कवि ने मानों अलक्ष्य रूप से इसे जाग्रत करना चाहा है। फिर भी इसका श्रेय उसे कहाँ तक है, यह सहसा नहीं कहा जा सकता।

अब यह देखना है कि राज्य-पक्ष को एक ओर कर देने पर जन साधारण के लिये इन कविताओं का क्या मूल्य रह जाता है। चारणों की कवितायें प्रायः व्यापक हो जाती हैं। जन सधारण उनसे परिचित हो जाते हैं। ऐसे कवियों के काव्य और और लोग कंठ कर लिया करते हैं और इधर-उधर सुनाते फिरते हैं। प्रायः जन समूह एकत्र हो कर इन्हें सुनता है। आज का आल्हा ऐसी ही कविता है। आल्हा का रचयिता जगनिक माना जाता है, जो चंद के समकालीन था। अतएव, यह तो निश्चय है कि आज का आल्हा जगनिक वाला आल्हा नहीं है। फिर भी भाषा और कथानक के परिवर्तन को एक ओर रख यदि हम यह जान सकें कि आल्हा सचमुच एक वीर-काव्य था और वह उस समय भी आज ही की भाँति गाया जाता था, तो यही मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के काव्यों ने तत्कालीन हिन्दू जन-समाज के जीवन पर अवश्य कुछ न कुछ प्रभाव डाला था।

अच्छा, तो देखना चाहिये कि इन वीर-गाथाओं को पढ़ कर जन-साधारण पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। पहली बात है—भावोद्बोधन। भाषा की कठिनता को जो चंद को छोड़ कर सबके साथ इतनी जटिल नहीं है, दूर कर लेने पर इन काव्यों से भावों में जागृति उत्पन्न होती है। पृथ्वीराज की वीरता की सराहना

करनी पड़ती है। जयचंद की मूर्खता और अदूरदर्शिता से उत्पन्न हिन्दू-साम्राज्य पर संकट से दुःख, क्षोभ और संताप होता है। इसी प्रकार सैकड़ों भाव उत्पन्न होते हैं। आज भी इन काव्यों में हमारी वीरता की निधि छिपी पड़ी है। वीरों का यह अमर स्मृति-चिन्ह है। यह दूसरी बात है कि उस समय जैसी कट्टर राज-भक्ति थी वैसी ही यदि देश-भक्ति भी होती तो जाने क्या होता। परन्तु उस समय के साहित्य की धारा राज-भक्ति की परिपोषक थी। जनता का आदर्श था राजा और उसके कार्यक्षेत्र की परिधि थी—राज-भक्ति। आज की भाँति उस समय भी इस राजनिष्ठा के कारण सैनिक-संगठन में सहायता पहुँचती थी। राजाओं का कीर्ति-वर्णन लोगों में राज-भक्ति के भाव पैदा करता था और राजा के सहज सान्निध्य से जनता के हृदय में राजा के प्रति सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो जाता था। यह तीसरी और चौथी बात हुई। पाँचवीं बात इन वीर गाथाओं से यह प्रकट होती है कि अत्याचार से दबना न चाहिये और अन्याय से घृणा करनी चाहिये। इन वीर-गाथाओं में राजाओं का येही ख़ास गुण हैं। निश्चय ही तब तत्कालीन जनता में भी थोड़े बहुत उक्त भाव अवश्य उठे होंगे। वह वीरता का युग था। लड़ाई एक साधारण बात थी अतः लोग निरन्तर सजग रहते थे। एक तो मुसलमानों के आक्रमण ने उनमें खलबली पैदा कर दी थी, दूसरे राजाओं के पारस्परिक कलह के कारण उनमें अशान्ति भी उत्पन्न हो गई थी।

फिर भी यह आश्चर्य है कि इस प्रकार के साहित्य से गिरते हुए हिन्दू-साम्राज्य को कुछ सहायता न मिली। एक कारण स्पष्ट है कि इस साहित्य का निर्माण जातीयभाव के प्रचारार्थ नहीं हुआ था। इन कवियों की कोई स्वतन्त्र सत्ता न थी। राजाओं के आश्रय में रह कर राजाओं ही के लिए वे कविता करते थे। जन साधारण तक उसकी पहुँच न हो सकी। वीरों का वर्णन, उनके युद्ध-कौशल का वर्णन और 'हम्मीर-हठ' व 'अब न चूक चौहान' वाली उक्तियां गिरते हुए हिन्दू-समाज को इसी से उठा न सकीं। इन कवियों की वाणी उनके दिलों में चुटकियां न भर सकी। फलतः जनता इस ओर उदासीन ही रही। मुसलमानों के संसर्ग ने उसकी उदासीनता को और बढ़ा दिया। जनता और उसके साथ कवियों ने इन वीर-गाथाओं को कोने में पटक दिया। आज उनमें से अनेक अप्राप्य है। जो मिलती हैं, उनका स्वरूप विकृत है।

सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य का यह युग राज-शक्ति ही में केन्द्रित रहा और उसी के द्वारा वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित भी हुआ, किन्तु उसकी यह दशा ठहर न सकी और उसका रुख़ एक दम दूसरी ओर पलट गया।

चंद का पृथ्वीराज रासौ ही इस युग का एक ऐसा ग्रंथ है जो काव्य की दृष्टि से उत्तम कहा जा सकता है। इन सब के परे वीर-गाथा के क्षेत्र से बहुत दूर मुसलमान कवि ख़ुशरो भी इसी युग की सम्पत्ति है। कहना न होगा कि, भाषा की दृष्टि

से सुगम होने तथा उसके रूप में घोर परिवर्तन उपस्थित होने का संदेश-वाहक होने के अतिरिक्त, खुसरो की कविता इस युग के आदर्श के अनुकूल नहीं है। इनकी पहेलियाँ उस काल के भारतीय-समाज की पहेलियाँ नहीं हैं। दिमाग़ की सूझ-बूझ चोखी है। यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी-साहित्य के इस प्रारम्भिक युग में भी मुसलमानों ने साहित्य-रचना में योग दिया। हिन्दू-समाज के साथ अनेक मुसलमान चिपक गये। जो दूर रहे वे भी हिन्दुस्तान में घर बनाकर रहे। इस संसर्ग ने हिन्दू-समाज में विचित्र स्थिति पैदा कर दी। एक ओर कट्टर हिन्दू सभ्यता थी दूसरी ओर मुसलमानों का उद्दाम वासनामय जीवन था। अब केवल शास्त्रों का संघर्ष न था; दो विभिन्न सभ्यताओं का भी संघर्ष था। इस संघर्ष ने हिन्दी साहित्य की विचार-धारा में एक गहरी उथल-पुथल मचा दी।

अब क्षण भर के लिये इस युग की साहित्य-धारा के अन्त-स्तल में प्रवेश करना चाहिये। चंद ही इस युग का प्रतिनिधि है और विशेषतः इसी के काव्य में हम कतिपय आवश्यक बातों की खोज कर सकते हैं। खुसरो को छोड़कर शेष साहित्य के निर्माण-कर्ता रासो ही के रस से परिप्लुत हैं। (खुसरो और चन्द के समय में साठ वर्ष का अन्तर है। खुसरो की कविता की भाषा आधुनिक भाषा का आदर्श उपस्थित कर चुकी थी। खुसरो फ़ारसी और अरबी का ही विद्वान् न था, हिन्दी और संस्कृत भी जानता था। इधर चंद भारतीय भाषा

विशेषतः संस्कृत का जानकार था; किन्तु उसने संस्कृत को छोड़कर एक प्रकार की प्राकृत भाषा ही में रचना की। चंद का सम्बन्ध विशेषतः संस्कृत से था अतः उसकी कविता की भाषा का झुकाव उसी ओर अधिक है। साथ ही संस्कृत काव्य-प्रणाली या छंद-प्रणाली का ही अनुसरण करने के कारण उसकी कविता का रूप क्लिष्ट हो गया है। दूसरी ओर खुसरो का सम्बन्ध फारसी और अरबी से था और उसकी काव्य-प्रणाली का आदर्श भी फारसी-कविता ही थी, अतएव हिन्दी-संस्कृत का जानकार होने पर भी उसकी कविता में सरलता आ गई है। उसने, जान पड़ता है, प्रचलित बोलचाल की भाषा से ही शब्द ग्रहण किये हैं। किन्तु चंद ने संस्कृत के आधार पर प्रचलित शब्दों में भी तोड़ मरोड़ कर डाली है; अतएव उसकी भाषा में यह महान-अन्तर पड़ गया है। चंद की भाषा तत्कालीन साहित्य की भाषा हो गई थी और खुसरो की हिन्दी आज की बोल चाल की हिन्दी हो गई है।

यह तो स्पष्ट ही है कि चंद की कविता का कथानक कल्पना-प्रसूत नहीं है; उसमें ऐतिहासिक तथ्य है। फिर भी इतिहास के आवरण में उसकी कल्पना-ज्योति छिपी हुई है और वहाँ उसकी प्रतिभा ने विकास पाया है। चंद ने संस्कृत भाषा की अवहेलना की है—इसमें अवश्य ही युग-प्रवृत्ति की छाप है। यदि जनता की अभिरुचि उस ओर न होती तो चंद का यह चारण-काव्य उस भाषा में कदापि न लिखा जा सकता। किन्तु भाषा की

दृष्टि से संस्कृत को पीछे ढकेल कर भी संस्कृत-काव्य-प्रणाली नहीं छोड़ी जा सकी। ऐसा होना इस आदि युगीन भाषा-साहित्य के लिये स्वाभाविक ही था। चंद ने देवताओं की स्तुतियां लिखी हैं; पौराणिक गाथाओं का उल्लेख किया है, किन्तु इसके साथ उसने यह ध्यान नहीं रखा कि वह जिस राज-कृति का मण्डन करना चाहता है यदि वह अनुचित है तो उसके समर्थन में प्राचीन साहित्य से वैसे ही उदाहरणों को लिखना उचित नहीं है। पृथ्वीराज की विवाहलिप्सा बहुत बढ़ गई थी। अनेकों युद्ध उसने इसी के लिये लड़े। यह सरासर अनुचित था। फिर भी यदि कोई कहे कि कृष्ण रुक्मिणी के लिये लड़े, राम सीता के लिये तो इनसे पृथ्वीराज की कृति का समर्थन नहीं होता। कवि यहां पर कृष्ण और राम के आदर्श चरित्र को भूल जाता है और पृथ्वीराज की कृतियों का मण्डन करते हुए एक स्थान पर उसकी लेखनी से यह निकल जाता है:—

> कहै चंद सुनि दंद
> त्रीय कज रावन षंड्यौ।
> वैरोचन त्रय नंद—
> मारि अप्पन भ्रम भंड्यौ॥
> कान्ह कंस सिसुपाल,
> कज रुकमनि जुध मंड्यौ।
> ता बंधव रुक्मना—
> बंधि मुंडवि सिर छंड्यौ॥

सुर असुर नाग नर पंषि पसु,
जीव जंत त्रिय कज भिरै।
रे भीम सीम चहुआन की,
ता वरनो को वर वरै॥

परन्तु चंद पृथ्वीराज की इस प्रवृत्ति का सर्वथा समर्थक न था। पृथ्वीराज ने ग़ोरी को हराया था, इससे उसके बल की धाक जम गई थी। अपने इस बल और आतङ्क से वह जहाँ किसी तरुणी राज-रमणी का समाचार पाता, वहीं धावा मार देता था। एक स्थान पर दूसरे के मुख से चंद ने पृथ्वीराज के इस अभिमान पर छींटा कस दिया है। वह इस प्रकार है:—

तुम सहाव बल बंधि,
गर्व सिर ऊधर लीना।
गिनौ और तिलमत्त,
कह्यौ न सुनौ तुम कीना॥
छत्तीन वंस छत्तीस कुल
सम समान गनियै अवर।
घर जाहु राज मुक्कौ बरन
कर न व्याह उच्छाह नर॥

यह उक्ति उज्जैन के राजा भीम द्वारा कहलवाई गई है। भीम ने अपनी कन्या इन्द्रावती का विवाह पृथ्वीराज के साथ करने से इन्कार कर दिया था।

चंद की काव्य-धारा में जहाँ एक बार युद्ध वर्णन की लहर उठती है वहीं दूसरी लहर में शृङ्गार-साहित्य भी उल्लास पाता है। जिस प्रकार युद्ध-वर्णन बड़ा रोचक और विशद है उसी प्रकार शृङ्गार की छटा भी मनोमोहक है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि हृदय में शृङ्गार रस का अनवरत प्रवाह बहता है। चंद स्वयं वीर था और पृथ्वीराज के साथ युद्धों में उपस्थित रहता था, किन्तु युद्ध के समय और कोलाहल में भी उसकी शृङ्गार-प्रियता छिपाए नहीं छिपती। युद्ध हो रहा है—वीरों के प्राण जा रहे हैं परन्तु दूसरी ओर स्वर्ग की अप्सराएँ उनमें अपने अपने योग्य वरों को ढूढ़ती हैं और जिसकी चलती है वही मानों उसे अपने स्थान में भगा ले जाती हैं। एक स्थान पर चंद पृथ्वीराज की एक सुंदरी का वर्णन करता है। सुनिये—

रत्तिन वृत्त सुनाभि,
तुंग नासा गजगमनी।
सासनि गंध जु चारु,
कुटिल केसं रति रमनी॥
वर जंघन मृदु पथु सुरंग,
कुरंग लप्पे छवि हीनं।
इह आयम कवि चंद,
हत्थ करतार स कीनं॥ इत्यादि।

और आगे बढ़िये। रमणियों के रस-विलास में चंद ने शृङ्गार

ही में सम्पूर्ण रसों की अवतारणा कर दी है। ज़रा इस सम्भोग शृङ्गार की गहराई को देखिये :—

रस विलास उप्पज्यो,
सखो रस हास सुरतिय।
ठाम ठाम चढ़ि हरम,
सह कह कहत हसत्तिय॥
सुरति प्रथम संभोग,
हंह हेहं मुख रत्तिय।
नां नां नां करि नवल,
प्रीति सम्पति रत ग्रत्तिय॥
शृङ्गार हास्य करुणा सुरुद्र,
वीर भयानक विभछ रस।
अद्‌भुत संत उपज्यो सहज,
सेज रमत दंपति सरस॥

दूसरी ओर युद्धों का वर्णन प्रायः इन्हीं के समान है। सब की तैयारी एक ही सी होती है। सामन्तों के अधिकार की थोड़ी झलक देख पड़ती है, परन्तु एक तन्त्र-शास्त्री की भांति पृथ्वीराज के आगे सब को सिर झुकाना पड़ता है। इच्छा न रहने पर भी स्वामि-काज में उन्हें प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। अधिकांश युद्धों के कारण भी एक ही से हैं। युद्ध की घटनाओं में अवश्य अन्तर है। पृथ्वीराज जितना वीर था उतना ही राजनीति से शून्य था। गोरी को बार बार पराजित कर छोड़ देने की नीति राज-

नीति से शून्यता का अच्छा उदाहरण है। पृथ्वीराज और उसकी भाँति अन्य भारतीय नरेशों तथा सामन्तों ने इस बात की उपेक्षा-ही की है, कि शारीरिक बल के साथ ही राजाओं के लिये राज-नीति भी एक बल है। हमारे साहित्य में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। फिर इधर उधर युद्ध हो रहे थे—क्यों? क्या स्वदेश की रक्षा और उसकी मान-मर्यादा के लिये? ऐसा मालूम नहीं होता। हम पहले लिख चुके हैं कि इस काल के हिन्दी-साहित्य का आदर्श और उसकी विचार-धारा मानों एक ही व्यक्ति में केन्द्रित हो गई थी। यह व्यक्ति कौन था? राजा; यही उस काल का सर्वस्व था—देश गौण था। व्यक्ति ही की भक्ति थी, देश की याद ही न थी। व्यक्ति के लिए युद्ध होते थे, देश को उसके पीछे होना पड़ता था। व्यक्ति का मानापमान ही सब कुछ था, देश का मानापमान उसी के पीछे था।

संस्कृत-साहित्य की कट्टरता और धर्म के प्रकाण्ड पाखण्ड तथा अनुदारता की छाप देश पर खूब लग चुकी थी। क्षात्रधर्म तथा बल का प्रयोग राजाओं के स्वार्थ के साथ कलह में हो रहा था। वैश्य जाति धनाढ्य थी, किन्तु वह अपने मूल कर्तव्यों को भुला चुकी थी। धन का मद उसे राजाओं ही की ओर खींच रहा था। शूद्र जाति तो घृणा की पात्र थी ही। इस जाति का तत्कालीन साहित्य से क्या सम्बन्ध हो सकता था। संस्कृत के पण्डितों के अभिमान और उनकी धार्मिक कट्टरता ने इस वर्ण का अविच्छेप उपेक्षणीय बना दिया था। सामाजिक संगठन

भी देखने के लिये सुदृढ़ था किन्तु भीतर ही भीतर उसकी नींव पोली होती जा रही थी। संस्कृत के पण्डित ये ब्राह्मण केवल वाग्वीर ही रह गये थे। उनमें धन की लालसा बढ़ रही थी। इनकी विद्या का उपयोग धनीमानी लोगों के लिये होता था। थोड़े से विद्वान और साहित्य के पण्डितों तथा रचयिताओं की बात जाने दीजिये। सधारण ब्राह्मण इधर उधर पुरोहितों का काम करते थे। उनकी शक्ति शिथिल हो रही थी और जैसे जैसे कर्तव्य की ओर से वे विमुख होते जाते थे वैसे ही वैसे वे दरिद्र और लोलुप भी होते जाते थे।

यहाँ हमने जो कुछ लिखा है वह तत्कालीन हिन्दी-साहित्य के आधार पर ही लिखा है। यह साहित्य कविता में है और कविता में ऐतिहासिक तथ्यों को बहुत दूर तक खोजना अपेक्षित नहीं है। परन्तु यह होने पर भी उक्त वर्णन काल्पनिक भी नहीं है। बौद्ध धर्म के विनाश के पश्चात् पौराणिक धर्म विस्तार पा चुका था। उस समय के संस्कृत-साहित्य ने जनता में सुरुचि के स्थान पर कुरुचि ही का प्रचार किया है।

इस युग के हिन्दी-काव्य-साहित्य को पढ़कर जिस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट होता है वह है—जन साधारण की ओर उपेक्षा का भाव। राजा की सेना ही उसकी जनता जान पड़ती है। ये सैनिक ही युद्धों में प्राण गँवाते हैं और ये ही जय जय कार बोलते हैं। ऊपर से देवी देवता तक आ जाते हैं और जयकार के साथ फूलों की वर्षा करते हैं। दूसरी

और जब राजा नई नई रानियों से विवाह कर नगर में प्रवेश करते हैं तब वहाँ उनका स्वागत होता है—चंदन वारें लटकाई जाती हैं। सम्पूर्ण जनता मानों एक स्वर से अपने स्वामी की इस मनोवृत्ति का समर्थन करती हुई जान पड़ती है। जनता के दुःख-सुख से उसका कोई सम्पर्क नहीं है। राजा की जब इच्छा होती है, सेना जुटा कर बाजे-गाजे के साथ बाहर निकल पड़ता है। पर उसकी यह सेना आसमान से नहीं कूद पड़ती—वह जन-साधारण ही से जुटाई जाती है। युद्ध में प्रजा के इन बन्धुओं के प्राण जाते हैं—किस युद्ध के लिये? किसी स्त्री की प्राप्ति के लिये कहे जाने वाले युद्ध के लिये अथवा व्यक्तिगत मानापमान किम्वा राज्य-सीमा के विस्तार के लिये लड़े जाने वाले युद्ध के लिये। सैकड़ों माताएँ पुत्र-हीन और सैकड़ों नारियाँ पति-विहीन हो जाती हैं। किसी की गोद का लाल छिन जाता है तो किसी का सौभाग्य-सिंदूर मिट जाता है; परन्तु राजा अपनी प्रेयसी को लेकर धूम-धाम से नगर में प्रवेश करता है, उस समय भी नगर में शोभा उमड़ी पड़ती है; राज-महलों में हर्ष-गान होता है। प्रजा की सुधि राजा को नहीं आती—प्रजा ही दौड़कर अपने स्वामी का स्वागत करती है। क्या इसे आप प्रजा का गहरा आत्म-त्याग कहते हैं? हम तो इसे प्रजा की शक्ति-शून्यता ही समझते हैं। कवि की यह कविता वीरता के चित्र अंकित करती हुई भी प्राण-हीन है। उसमें शक्ति है किन्तु सद्भावना नहीं; अभिमान है

किन्तु गौरव का अभाव है। राजा के जय-जय-कार में प्रजा का मूक रोदन भी है; उसके हर्षोल्लास में प्रजा की करुण पुकार भी है। परन्तु कविता में इसका पता नहीं पाया जाता है। भारत-वर्ष की सामाजिक परिस्थिति पर इन युद्धों का कुछ प्रभाव न पड़ा। उसके धर्म, जाति-मर्यादा और संगठन को ज़रा भी धक्का न पहुँचा। इतिहासकार भले ही ये शुष्क और निर्जीव तर्क भिड़ाते रहें, कवि इसे नहीं मानते। चारों ओर मारकाट मची हो, जनता की सम्पत्ति युद्धों में लुटाई जा रही हो, उन्हीं की संतानें युद्धों में काम आ रही हों, उस समय इन थोथे धर्म-तत्वों का और इस प्राणहीन सामाजिक संगठन का क्या मूल्य हो सकता है? यदि ऐसे अवसरों पर भी जनता ज्यों की त्यों बनी रहती है और युद्धों के पश्चात् भी उसकी परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता तो कवि-हृदय उसकी उपमा निष्प्राण शरीर ही से दे सकता है। यही तो कारण है कि हिन्दू जनता इतनी दब्बू और परमुखापेक्षी हो गई है। उसमें क्रान्ति करने और उठ कर आगे बढ़ने का सामर्थ्य नहीं रहा। राज-भक्ति के दायरे में घिर कर वह अपना दायित्व भूल गई और परिवर्तन के वायु-वेग में एक सजीव वृक्ष की भाँति अपने शाखा-पल्लवों से परिस्थिति बदलने का संकेत करने के स्थान में ठूँठ की भाँति खड़ी रही।

किन्तु इसी समय एक बात की ओर हमारा ध्यान और जाता है। हम प्रारंभ ही में कह चुके हैं कि यह युग चारण-काव्य का

था। इन वीर-गाथाओं का जन्म ही राज-यश और राज-कृति के वर्णन के लिए हुआ; किन्तु इस युग के पश्चात् भी चारण-काव्यों की रचना हुई और उनमें तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। असल बात तो यह है कि पृथ्वीराज का यह सौभाग्य था कि उसे चंद जैसा महा प्रतिभाशाली कवि मिल गया और सचमुच यह चन्द का दुर्भाग्य था कि उसकी प्रतिभा का विकास एक ऐसे परिमित क्षेत्र में हुआ। अतएव यदि चंद की कविता पर हमें गर्व हो सकता है तो इसीलिए कि वह हिन्दी-साहित्य के आदि युग का महाकवि है जिसकी रचना हमें प्राप्य है। अन्यथा उसकी (कविता के वीर-रस ने हिन्दू जाति को सजग नहीं किया, हाँ उसकी शृङ्गार-धारा ने उसे दूसरी ओर भले ही बहा दिया) किन्तु इसके लिये चंद को हम दोषी नहीं ठहरा सकते अथवा उसकी रचना को हीन दृष्टि से नहीं देख सकते। साहित्य पर युग के धर्म का प्रभाव पड़ता ही है। फिर चंद ऐसी परिस्थिति में रहा, कि उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह जनसाधारण का कवि बनता। चारण-काव्य के इसी आदर्श ने आगे भी साधारण श्रेणी के कवियों की प्रवृत्ति उसी ओर झुका दी और वे भी निरर्थक राज-यश-वर्णन में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगे।

तुलसीदास पर उनके समकालीन कवियों का प्रभाव

(लेखकः—भगवती चरण वर्म्मा बी० ए०)

"सीय राममय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोर युग पानी।"

गोस्वामी तुलसीदास का सारा जीवन एक विशेष लक्ष्य के पाने की साधना में ही बीता था, तो भी उनका अध्ययन तथा अनुभव इतना बृहद् था कि वे किसी भी विषय पर अच्छी तरह लिख सकते थे। गोस्वामी तुलसीदास का स्थान भक्ति-रस-कालीन कवियों में ही क्या, हिन्दी साहित्य के सभी कवियों में सर्वोच्च माना जाता है; और तुलसीदास की बहुत कुछ ख्याति उनकी असीम भक्ति के साथ ही साथ उनके अध्ययन तथा अनुभव पर भी निर्भर है। तुलसीदास की जैसी ख्याति उत्तरीय भारत में है, वैसी शायद किसी दूसरे कवि की संसार में कहीं भी नहीं है। इसके कई कारण हैं।

तुलसीदास का सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ रामचरित-मानस है और रामचरित-मानस ने ही तुलसीदास के नाम को अमर कर दिया है। मानस को पढ़ कर यह आभासित होने लगता है कि गोस्वामी तुलसीदास पहिले भक्त हैं फिर कवि। मानस का उत्तरीय भारत में इतना अधिक प्रचार उसकी सुन्दर तथा मनोहर कविता के

कारण नहीं है, वह आडम्बर-रहित असीम-भक्ति के उच्च उद्गारों के कारण है। तुलसीदास की सरल भाषा तथा उनकी सुन्दर शैली उनकी ख्याति के कारण नहीं, ये साधन मात्र हैं।

तुलसीदास भक्ति-रस प्रधान युग के अन्तिम कवि थे, और उन्होंने भक्तिरस को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। भक्ति-रस प्रधान युग हिन्दी-साहित्य में बड़ा महत्व पूर्ण युग है—हिन्दी के प्रायः सभी बड़े बड़े कवियों ने उसी काल में जन्म लिया था। साहित्यिक घटा का चारण काल की कविताओं में अभाव सा है, और पूरे अभाव का कारण वीर रस की प्रधानता के साथ साथ हिन्दी भाषा में प्रौढ़ता का अभाव है। चारणकाल की समाप्ति के बाद भारत का राजनैतिक जीवन भारतवर्ष के मुसलमानों के हाथ में आ जाने के कारण शिथिल हो गया, और साथ ही अफ़गान शासकों के दरबारों ने हिन्दी कविता को आश्रय नहीं दिया—हिन्दी-साहित्य में भक्ति की कविताओं का जन्म हुआ। भक्ति-काल के उदय होने के समय में हिन्दी भाषा यथेष्ट प्रौढ़ हो चुकी थी। भाषा अथवा साहित्य की प्रौढ़ता उसको सदा शृङ्गार की ओर खींचती है, और इसी नियम के अनुसार भक्ति-काल की कविताओं में शृङ्गार यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। विद्यापति ठाकुर की पदावली जयदेव से प्रभावित होने के कारण कृष्ण की भक्ति को शृङ्गार से न बचा सकी। शायद कुछ लोगों को विद्यापति में भक्ति का अनुभव तक न हो यह सम्भव है—पर शृङ्गार उसमें स्पष्ट है। यह तो

संस्कृत कवियों के प्रभाव का एक उदाहरण है, पर जायसी का पद्मावत भक्ति-प्रधान काव्य का स्तंभ होते हुए भी शृङ्गार-रस से परिपूर्ण है। इसीलिए यह कहना अनुचित न होगा कि चारण-काल के बाद हिन्दी-साहित्य में रस-पूर्ण कविताओं का जन्म हुआ—और कविता की गति शृङ्गार की ओर रही, पर शासकों का आश्रय न मिलने के कारण शृङ्गार-रस को यथेष्ट गौरव न प्राप्त हो सका। इधर रामानुजाचार्य के वैष्णव मत के प्रचारकों के कारण उत्तरीय भारत में भक्ति का भाव प्रबल हो गया।

तुलसीदास के समय में परिस्थियाँ बदल गयी थीं—मुग़ल सम्राट अकबर कला का उपासक था और साथ ही उसे हिन्दुओं से सहानुभूति भी थी। परिणाम यह हुआ कि जब दरबारों ने जहाँ विलासिता का प्राधान्य था, कविता को आश्रम दिया तब कविता में शृङ्गार की प्रधानता हो गयी। इसलिए तुलसीदास के समय में ही हिन्दी-साहित्य के एक नये युग का जन्म हुआ और वह युग अलंकृत युग के नाम से प्रसिद्ध है। कृपाराम की हिततरंगिणी जो अलंकृत काव्य की पहिली पुस्तक है अकबर के शासन-काल में लिखी गयी थी। तुलसीदास के ग्रंथ स्वयम् ही यह बतला देंगे कि तुलसीदास के जीवनकाल में ही अलंकृत युग का जन्म हो गया था।

तुलसीदास की कविता का अध्ययन करने के पहिले भक्ति-काल को समझ लेना आवश्यक हो जाता है। भक्ति-काव्य

वैष्णवों से आरम्भ हुआ। वैष्णवों के उत्तरीय भारत में दो केन्द्र थे। काशी और व्रज। काशी में राम-मत का प्राधान्य था, और उसके गुरु रामानन्द थे। रहा व्रज, उसका इतिहास बड़ा जटिल है। विद्वानों का मत है कि वल्लभाचार्य के साथ कृष्ण-पूजा के रूप में वैष्णवधर्म वहाँ आया। पर यह मत, वल्लभाचार्य के पहिले व्रज के इतिहास को पढ़ने से ग़लत मालूम होने लगता है। चैतन्य वल्लभाचार्य से पहिले हो गये हैं, और चैतन्य के समय में व्रज वैष्णवों का केन्द्र था। अस्तु, जो कुछ हो, हमारे मत से राधा-कृष्ण का रूपक व्रज में प्रचलित था और उसके उपासक भी यथेष्ट थे। उसकी पुष्टि के लिए जयदेव का गीतगोविन्द और विद्यापति की पदावली पर्याप्त हैं।

हाँ, वल्लभ सम्प्रदाय ने कृष्ण-पूजा को एक नया रूप देकर उसे अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। वल्लभ ने कृष्ण के बाल-रूप की पूजा का आदेश दिया। दूसरा काम जो वल्लभ-सम्प्रदाय ने किया, यह है कि हिन्दी-साहित्य की व्रज में बड़ी उन्नति हुई। अष्टछाप का नाम हिन्दी संसार में अमर है।

इधर रामानन्दी सम्प्रदाय में भी परिवर्तन हुए। कहा जाता है कि कबीर रामानन्द के चेले थे। कबीर मुसलमान होने के कारण वैष्णव धर्म पर दृढ़ न रह सके, और साथ ही साथ प्रतिभावान होने के कारण उन्होंने एक दूसरे धर्म का निर्माण किया। कबीर का सम्प्रदाय अशिक्षित समाज में ज़ोर पकड़ रहा था।

वास्तव में भक्ति का यह युग विचित्र था। इधर तो वैष्णव-सम्प्रदाय कट्टरता का दम भर रहा था, और उधर सूफी लोगों से प्रभावित नये नये सम्प्रदाय हिन्दू और मुसलमान धर्मों को मिटाकर एक नये धर्म के प्रचलित करने का उद्योग कर रहे थे। यहीं पर तुलसीदास की सफलता का कारण मिलता है। वैष्णव-धर्म साधारण मनुष्यों के लिए न था—वैष्णव धर्मावलम्बी होने से समाज से अलग होना पड़ता था। फिर नया धर्म इतना अनिश्चित तथा शुष्क था कि लोग उस पर चल न सकते थे। शुष्क निराकार की पूजा सम्भव है या नहीं, इस पर तो हम नहीं कह सकते पर जनसमुदाय के लिए तो यह अवश्य असम्भव है। ऐसी परिस्थितियों में तुलसीदास ने अपनी भक्ति की दीक्षा देकर उत्तरीय-भारत का बड़ा उपकार किया। आवश्यकता थी ऐसे मनुष्य की जो मनुष्यों को आडम्बर से रहित ऐसी भक्ति का आदेश दे जिसको वह समाज में रहते हुए कर सकें।)

एक बात और है—तुलसीदास ने एक काम और किया जिसके कारण लोग सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

इतिहास यह बतलाता है कि वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में सदा कलह रहती थी और दोनों सम्प्रदाय वाले एक दूसरे को शत्रु समझते थे। तुलसीदास के पहिले विद्यापति ने शैवों और वैष्णवों को मिलाने का प्रयत्न किया और शायद मिथिला में यह कलह इतनी भयानक न थी, पर तुलसीदास ने शिव और

विष्णु को साथ ही साथ रख कर और उनकी पूजा करके, उत्तरी भारत में उस कलह को कम कर दिया।

पहिले ही हम कह चुके हैं कि तुलसीदास पहिले भक्त हैं फिर कवि। पर इससे यह प्रयोजन नहीं कि तुलसीदास का स्थान कवि की हैसियत से नीचा है। तुलसीदास का स्थान कवि की हैसियत से यथेष्ट ऊँचा है—और इसके कारण है। प्रकृति के उपासक होने के कारण तुलसीदास में बाह्याडम्बर तथा क्लिष्टता का कोई स्थान नहीं, और साथ ही तुलसीदास के गहन अध्ययन तथा अनुभव ने उनकी कविता को सरस तथा सुन्दर बना दिया। तुलसीदास की एक विशेषता जिसको समता हिन्दी संसार का कोई दूसरा कवि अभी तक नहीं कर सका, यह है कि वे कविता में कथा भाग का बड़ी कुशलता पूर्वक निर्वाह करते हैं। कवियों में और विशेषतः उन कवियों में जो खण्ड-काव्य लिखते हैं एक प्रवृत्ति का रहना आवश्यक है जिससे वह वर्णनात्मक मात्रा की शिथिलता को कविता को मनोहरता का रङ्ग दे दें, और तुलसीदास में यह प्रवृत्ति ख़ूब थी। इसी की अनुपस्थित ने सूरदास ऐसे महान् प्रतिभाशाली कवि को विस्मृत के गढ़े में फेंक दिया।

पर रामचरितमानस को छोड़ कर तुलसीदास की अन्य रचनाओं में कुछ शिथिलता मालूम होने लगती है। शिथिलता भावों में विशेष नहीं, शिथिलता है शैली में। इसका कारण तुलसीदास में मौलिकता की अनुपस्थिति है। भाव मौलिक

नहीं होते, एक प्रकार से उनका मौलिक होना असम्भव सा है। पर वे मौलिक शैली के साथ मौलिकता का रूप पा जाते हैं। गीतावली और कवितावली, दोनों सुन्दर ग्रंथ हैं; फिर भी उनको पढ़ कर यह आभासित होने लगता है कि हम तुलसीदास के काव्य नहीं पढ़ रहे हैं। तुलसीदास, जहां तक वे अपने प्राकृतिक गुणों पर अवलम्बित हैं, सफल रहे, पर जैसे ही उन्होंने दूसरों के गुणों को अपनाना चाहा, वे वैसे ही गिर गये।

जब हम यह कहते हैं कि तुलसीदास ने दूसरों के गुणों को अपनाया है, तब हमारा यह प्रयोजन नहीं कि तुलसीदास ने जान बूझ कर दूसरों के भावों तथा शैली को चुराया है; हमारे विचार से तो वे अपने समकालीन कवियों के प्रभाव से नहीं बच सके। शायद तुलसीदास पर उनके समकालीन कवियों का प्रभाव इतना पड़ा जितना न पड़ना चाहिये था और यह उनकी कमज़ोरी थी। तुलसीदास के समकालीन कवियों में तीन नाम महत्व के हैं, सूरदास, केशवदास और अब्दुलरहीम खानखाना—और इन तीनों कवियों का प्रभाव तुलसीदास की कविता में झलकता है।

यह तो निश्चित है कि तुलसीदास वर्णनात्मक कविता लिखने में हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी कवियों में श्रेष्ठ हैं, पर जहां तुलसीदास ने गीतिकाव्य तथा अलंकृत-काव्य लिखने का प्रयत्न किया है वहीं वे असफल रहे हैं। रामचरितमानस तुलसीदास का सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ है, यह सभी मानते हैं; मानस पर ही

उनकी सारी ख्याति है। मानस दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है।

तुलसीदास के पचास या साठ वर्ष पूर्व मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत लिखा था। पद्मावत भी दोहों और चौपाइयों में लिखा गया है, पद्मावत के पूर्व भी अन्य मुसलमान कवियों ने जायसी की भाँति प्रेम-कहानियाँ दोहों और चौपाइयों में लिखी थीं—इस लिए यह मानना पड़ेगा कि दोहा और चौपाई मुसलमानों के विशेष छन्द से हो गये थे। दूसरे मुसलमान कवियों को हम छोड़ देते हैं क्योंकि हमें प्रयोजन यहाँ केवल जायसी से है। जायसी भक्त था, और उसका पद्मावत एक रूपक है। पद्मावत में भक्ति-रस यदि प्रधान नहीं, तो है बहुत कुछ। पद्मावत अवधी में लिखा गया है—और हमारे विचार से दोहा और चौपाई अवधी भाषा के उपयुक्त छन्द भी हैं। इस प्रकार तुलसीदास और जायसी की भाषा अवधी होने के कारण बहुत कुछ मिलती जुलती है—साथ ही साथ दोनों सरल हैं। तुलसीदास में केवल इतनी समानता है, अधिक नहीं; और अधिक समानता न होने के कारण दोनों की भिन्न भिन्न सामाजिक परिस्थियाँ हैं।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास ने शायद जायसी को पढ़ा था और जायसी ने उन्हें यथेष्ट प्रभावित भी किया था। तुलसीदास महाकवि थे, और उन पर ऐसे दोषारोपण करना किसी अंश तक उनके उपासकों को बुरा लग सकता है, पर सत्य सत्य बात यही है।

अब देखना यह है कि तुलसीदास पर उनके समकालीन कवियों का प्रभाव किस अंश तक उचित और किस अंश तक अनुचित पड़ा। इसके पहिले कि हम और कुछ कहें, हमें गीत-काव्य की परिभाषा दे देनी चाहिये। गीतकाव्य से हमारा प्रयोजन उन भजनों से नहीं है जो आरम्भ से हिन्दी कवियों के द्वारा लिखे गये हैं। कबीर, दादू तथा इसी कोटि के और कवियों के अनेक ऐसे पद मिलते हैं, पर वे राग रागनियों में नहीं बँधे हैं। गीत-काव्य से हमारा प्रयोजन उन पदों से है जो रस के अनुसार विशेष रागनियों में बाँध दिये गये हैं। इस परिभाषा के अनुसार हिन्दी में गीत-काव्य विशेषतया कृष्ण-काव्य है और उसका केन्द्र ब्रज था। गीत-काव्य के प्रथम आचार्य सूरदास थे—और इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि गीत-काव्य में तुलसीदास जी सूरदास से प्रभावित हुए हैं। इस अनुमान के कारण भी हैं।

तुलसीदास अवधी प्रान्त के रहनेवाले थे। तुलसीदास की प्रारम्भिक कविताएँ अवधी भाषा में लिखी हैं, यह तुलसीदास की कविताओं के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदास ने अपनी कविताओं में तिथियाँ नहीं दी हैं, पर मानस में तिथि मौजूद है। मानस सम्वत् १६३१ वि० में लिखा गया था। इसके बाद दूसरी तिथि पार्वतीमङ्गल में मिलती है। जय सम्वत्, विद्वानों का मत है, सम्वत् १६४२ में था। यह दोनों पुस्तकें अवधी में हैं। फिर तुलसीदास की भाषा एक दम बदल गयी। उनके ब्रजभाषा के

ग्रंथों में वैसे तो कोई तिथि नहीं दी गयी है, पर उन ग्रंथों में जिन समकालीन घटनाओं का जो वर्णन किया गया है उनकी तिथि अवश्य मालूम है। कवितावली में विश्वनाथ की बीसी का वर्णन आया है और उसके साथ मीन का शनि तथा महामारी का वर्णन भी आया है। विश्वनाथ की बीसी सम्वत् १६६०—८० तक थी, और मीन का शनि सम्वत् १६८० के इधर उधर था। रही महामारी की बात—सो इतिहास यह बतलाता है कि आगरा में सन् १६१५ अथवा सम्वत् १६७२ में प्लेग का प्रकोप था, वह प्लेग सम्भवतः सारे उत्तरीय भारत में फैला था। इससे यह स्पष्ट है की तुलसीदास की ब्रजभाषा का कविता-काल सम्वत् १६७२ के बाद है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि तुलसीदास ने यदि ब्रज-भाषा में कविता लिखी तो इससे सूरदास के प्रभाव का क्यों अनुमान किया जाता है। इसके कारण स्पष्ट ही हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पढ़ने से यह पता लगता है कि तुलसी-दास के समय में ब्रजभाषा हिन्दी-कविता की भाषा न थी। उस समय प्रत्येक कवि अपनी प्रान्तिक भाषा में कविता लिखता था। उदाहरण स्वरूप में जायसी ने अवधी में कविताएँ लिखी थीं और महाकवि केशवदास ने बुन्देलखण्डी में। ब्रज-भाषा उन दिनों वैसी ही थी जैसी अन्य प्रान्तीय भाषाएँ थीं, यह तो अष्टछाप और कृष्ण-पूजा का प्रभाव था, जिनका केन्द्र ब्रज था, और जिनका प्रधान रस शृङ्गार था, जिसे बाद के कवियों

ने अपनाया था, इसने व्रजभाषा को शृङ्गारिककाल में कवियों की भाषा बना दिया था। एक सज्जन ने हमें दादू तथा कबीर की कविताओं के आधुनिक रूप दिखा कर हमसे यह कहा था कि व्रजभाषा सूरदास तथा तुलसीदास के पहिले से ही कविता की भाषा रही है। पर वे उस समय व्रजभाषा के शृङ्गारिक काल के प्रभाव को भूल गये थे। कबीर तथा दादू के पद जिस रूप में लिखे गये थे, उस रूप में वे प्राप्त नहीं, वे वस सम्प्रदायों में गाये जाते थे, और उस काल में जब व्रजभाषा का ज़ोर था, उनमें भाषा रूपी अनेक परिवर्तन कर दिये गये थे। अस्तु, जो कुछ हो, पर इतना अवश्य है कि व्रजभाषा हिन्दी-कविता की भाषा केवल शृङ्गारिक काल में हुई थी, इसके पहिले नहीं। व्रजभाषा की भक्ति-रस की कविता में भी शृङ्गार यथेष्ट मात्रा में मिलता है, और इसका कारण श्रीकृष्ण की भक्ति है। सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियों ने ही अपनी रस-पूर्ण कविता से व्रजभाषा को सर्वप्रिय बना दिया। तुलसीदास भी उस कविता से प्रभावित हुए थे। इस प्रभाव को समझने के लिए हमें तीन बातों को देखना आवश्यक है।

पहिली बात तुलसीदास की भाषा है। उस पर हम यथेष्ट कह चुके हैं। दूसरा तुलसीदास का गीतकाव्य है। हम गीतकाव्य की परिभाषा पहिले ही दे चुके हैं। गीतकाव्य कृष्णकाव्य था, उसका केन्द्र व्रज था और उसके प्रथम आचार्य सूरदास थे। तुलसीदास ने गीतकाव्य की तीन पुस्तकें लिखीं

हैं—रामगीतावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका। एक बात बड़े मज़े की है, इन तीनों पुस्तकों के समान की ही पुस्तकें सूरदास की भी लिखी हुई मिलती हैं। रामचरित-मानस में केवल राम-महिमा है, पर गीतावली लिखने के समय तुलसीदास ने कृष्ण-महिमा भी गायी है। यह क्यों? प्रश्न यह है।

सूरसागर में कृष्ण-महिमा मुख्य है, पर कुछ पद राम-महिमा के भी हैं। सूरदास का क्रम श्रीमद्भागवत के अनुसार है। पर जिस समय हम तुलसीदास का ब्रजभाषा में लिखा हुआ गीतकाव्य पढ़ते हैं तो पाते हैं कि तुलसीदास ने राम-महिमा के साथ साथ कृष्ण-महिमा भी कही है, उस समय हमें एकाएक आभासित होने लगता है कि सूरदास की छाया तुलसीदास में काम कर रही है। तुलसीदास की विनयपत्रिका सुन्दर है, और शायद अद्वितीय है, पर जिस समय हम सूरदास की विनयपत्रिका पर ध्यान देते हैं, उस समय यही अनुमान होता है कि शायद सूरदास की विनयपत्रिका ने ही तुलसीदास को विनयपत्रिका के लिखने का भाव दिया हो।

तीसरी बात बड़ी महत्वपूर्ण है, वह सूरदास और तुलसीदास के पदों की समानता है।

विनयपत्रिका मानस के बाद तुलसीदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है और इसका कारण विनयपत्रिका की कविता नहीं है, वरन् उसमें भक्ति के उद्गार हैं। विनयपत्रिका में तुलसी ने किसी अंश तक अपनी मौलिकता बचा रक्खी है। विनयपत्रिका, भक्ति और

केवल भक्ति का ग्रंथ है, और महान् भक्त होने के कारण तुलसीदास विनयपत्रिका में किसी अंश तक मौलिक रहे हैं। फिर भी भाषा ब्रजभाषा है, और काव्य गीतकाव्य है। तुलसीदास की भक्ति विनयपत्रिका में किसी अंश तक कट्टरता तक पहुँच गयी है, विशेषतया जहाँ वे कहते हैं:—

जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।

पर कवित्व की विनयपत्रिका में अनुपस्थिति ही है। सूरदास के पदों में भाव तथा रस दोनों हैं—उनमें कवित्व यथेष्ट परिमाण में है। इसके ये अर्थ नहीं कि तुलसीदास की विनय-पत्रिका में कवित्व-पूर्ण तथा चमत्कारपूर्ण स्थल हैं ही नहीं; वे हैं पर हैं बहुत कम, और कहीं कहीं तो उन चमत्कारपूर्ण स्थलों में तुलसीदास के स्थान में अन्य कवियों की प्रतिभा झलकने लगती है।

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तो भव बेगार महँ परि है। छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार मार मदमाते चलहिं न पाउ बटोरा रे।
मंद बिलन्द अमेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँट कुराय लपेटन लोटन भु महिं ठाँव बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूर तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥

मारग अगम संग नहिं सम्बल नाँउ गाँउ कर भूला रे।
तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे॥

कबीर और उनके सम्प्रदायवालों को ही ऐसी कविता लिखने का श्रेय प्राप्त है—तुलसीदास का यह क्षेत्र नहीं; और यह पद विनयपत्रिका में कुछ कटु जँचने लगता है। विनयपत्रिका का पद-भाग बहुत सरल है—छायावाद से तुलसी बहुत दूर रहे हैं। पर विनयपत्रिका में छायावाद की यह कविता कैसी? कबीर और सन्त-समाज तुलसीदास के पहिले से ऐसी कविताएँ लिखता रहा है, और बहुत सम्भव है कि तुलसीदास पर उनका कुछ थोड़ा सा प्रभाव पड़ा हो।

तुलसीदास पहिले भक्त हैं और फिर कवि, सूरदास भक्त और कवि साथ साथ हैं। शायद सूरदास में कला की प्रधानता है। इसीलिए तुलसीदास को जहाँ उनकी वर्णनात्मक कविता की सफलता से उनकी कविता में शिथिलता के दोष नहीं छिप सके, उन्हें सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि विनय-पत्रिका का स्थान, उसमें भक्ति की प्रधानता होते हुए भी, मानस से कहीं नीचे है।

रामगीतावली और कृष्णगीतावली, ये दोनों ग्रंथ भी विनय-पत्रिका की भाँति गीतकाव्य और व्रज-भाषा में लिखे गये हैं। भेद केवल इतना है कि इनमें सूरदास का प्रभाव स्पष्ट है। कृष्णगीतावली पर विचार करना तो व्यर्थ ही है क्योंकि वह एक छोटी सी पुस्तक है और विषय की समानता होने के कारण

कई पद सूरसागर के और उसके एक ही हैं। रही रामगीतावली की बात, उसमें विषय की विभिन्नता होते हुए भी सूरदास का प्रभाव इतना है जितना न होना चाहिये था। हमारे विचार के अनुसार सूरसागर के बाद ही यह गीतावली लिखी गयी है, क्योंकि सूरसागर का समय और तुलसीदास की व्रजभाषा की कविता का काल सम्वत् १६४२ के बाद ही है। फिर मानस और गीतावली के कथा-भागों की तुलना करने पर कुछ बातें ऐसी मिलती हैं जिनसे हमारे विचार की पुष्टि होती है। उदाहरण स्वरूप रामचन्द्र के प्रति जो उद्गार कौशिल्या ने विश्वामित्र के साथ जाने के बाद गीतावली में प्रकट किये हैं, वे मानस में नहीं है, और साथ साथ वे वैसे ही हैं जैसे सूरसागर में यशोदा ने कृष्ण के मथुरा जाने के बाद उनके प्रति प्रकट किये हैं। देखिये गीतावली के पद—६७, ६८, ६९।

रामचन्द्र की बाललीला का वर्णन करते समय तुलसीदास की आंखों के आगे कृष्ण की बाललीला का वही चित्र झूल रहा था, जो सूरसागर में अङ्कित है। एक आध जगह तो सूरसागर के पद के पद गीतावली में कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ मिलते हैं) उदाहरण स्वरूप में हम सूरसागर और गीतावली के पदों को क्रम से दे रहे हैं।

सूरसागरः—

खेलन चलिये बालगोविन्द।
सखा प्रिय द्वारे बुलावत घोष-बालक-वृन्द॥

तृषित हैं सब दरस-कारन चतुर चातक दास।
बरषि छवि नव वारिधर है हरहु लोचन-प्यास॥
विनय-वचनन सुनि कृपानिधि चल मनोहर चाल।
ललित लघु लघु चरन कर उर नयन बाहु बिसाल॥
अजिर पद-प्रतिबिम्ब राजत चलत उपमा पुंज।
प्रति चरन मनु हेम-बसुधा देत आसन कुंज॥
सूर प्रभु की निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि।
सरद-चंद चकोर मानौं रहे थकित बिलोकि॥

गीतावली:—

खेलन चलिये आनँद कंद।
सखा प्रिय द्वारे बुलावत विपुल बालक-वृन्द॥
तृषित तुम्हरे दरस-कारन चतुर चातक दास।
बपुष-बारिद बरषि छवि-जल हरहु लोचन-प्यास॥
बन्धु-बचन विनीत सुनि उठे मनहु केहरि-बाल।
ललित लघु सर चाप कर उर नयन बाहु बिसाल॥
चलत पद-प्रतिबिम्ब राजत अजिर सुखमा पुंज।
प्रेम-बस प्रति चरन महि मनो देत आसन कुंज॥
निरखि परम विचित्र शोभा चकित चितवहिँ मात।
हरष-बिबस न जात कहि निज भवन विहरहु तात॥
देख तुलसीदास प्रभु-छवि रहे सब पल रोकि।
थकित निकर चकोर मानो सरद-इंदु बिलोकि॥

सूरसागरः—

आँगन खेलत घुटुरुवनि धाए ।
नील जलद तनु सुभग स्याम मुख निरखि जननि दोऊ निकट बुलाए ॥
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए ।
नूपुर कलरव मनो सुत हंसन रचे नीड़ दै बाँह बसाए ॥
कटि किंकिन वर हार ग्रीव पर रुचिर बाँह बहु भूषन पहिराए ।
उर श्रीवत्स मनोहर केहरि नखन मध्य मनिगन जनु लाए ॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवण कपोल मोहि सुठि भाए ।
भुव सुन्दर करुणारस-पूरण लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥
भाल बिसाल ललित लटकन मनि बाल-दसा के चिकुर सुहाए ।
मानो गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ॥
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाए ।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि स्वभाव मानो तड़ित छिपाए ॥
अंग अंग प्रति मार-निकर मिलि छवि-समूह लै लै जनु छाए ।
सूरदास सो क्यों करि बरनों जो छवि निगम नेति करि गाए ॥

गीतावली :—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए ।
नील जलद तन स्याम रामसिसु जननि निरखि मुख निकट बुलाए ॥
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज अंकुश प्रमुख चिह्न बनि आए ।
जनु नूपुर कलहंसनि रचे नीड़ दै बाँह बसाए ॥
कटि मेखल वर हार ग्रीव पर रुचिर बाँह भूषन पहिराए ।
उर श्रीवत्स मनोहर हरि-नख हेम मध्य मनिगन जनु लाए ॥

सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका सुमन कपोल मोहि अति भाए।
भ्रू सुन्दर करुना-रस-पूरन लोचन मनहुँ जुगल जल जाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन वर बालदसा के चिकुर सुहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए॥
उपमा एक अभूत भई जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडगन निरखत तजि स्वभाव मानों तड़ित छिपाए॥
अंग अंग प्रति मार निकर मिल छवि समूह लै लै जनु धाए।
तुलसीदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो विधि होहिं बनाए॥

स्थानाभाव के कारण और पद नहीं दिये जा सकते। कुछ विद्वानों का मत है कि ये पद तुलसीदास के भक्तों ने गीतावली में रख दिये हैं, और ऐसा सम्भव भी हो सकता है, पर जब हम गीतावली के और पदों को समालोचनात्मक दृष्टि से पढ़ते हैं, हमें ऐसा अनुमान करने का कोई कारण नहीं मिलता। इससे हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि तुलसीदास ने चोरी की। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि तुलसीदास ने यह समझते हुए कि वह अपने मौलिक पद लिख रहे हैं, भूल से सूरदास के पद, जो दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे, लिख दिये हैं।

तुलसीदास के जीवन के प्रारम्भिक काल में ब्रज महान् कवियों का एक बड़ा केन्द्र हो गया था। अष्टछाप का नाम हिन्दी संसार में अमर है—और उसका काव्य बड़ा ही सरस तथा मधुर है। तुलसीदास वैष्णव थे, और वे ब्रज गये भी थे क्योंकि किंवदंतियाँ ऐसा ही कहती हैं, और नाभा जी ने भक्तमाल

में उनका उल्लेख भी किया है। गोसाईं-चरित्र नामक पुस्तक में भी जो अभी प्रकाशित हुई है, और जिसे हम जाली मानते हैं—हमारे उसे जाली मानने के कारण हैं जिनको हम आगे चल कर प्रकट करेंगे—यह लिखा है कि वे व्रज गये थे और वहाँ वे इन महाकवियों से मिले थे। हमारे विचार से वहाँ सूरदास ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया था, और व्रजभाषा की—विशेष रूप से सूरदास की—कविता ने उन्हें मुग्ध कर दिया और इसी लिए तुलसीदास ने भी गीत-काव्य लिखा है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि हमारी परिभाषा के अनुसार गीत-काव्य कुछ और है, और इसीलिए रामगीतावली को लिखने के समय में तुलसीदास ने कुछ भयानक भूलें कर दी हैं।

एक पद तुलसीदास का विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रामचन्द्रजी जाते तो हैं अयोध्या से मिथिला को, पर तुलसीदास का पद इस प्रकार है:—

मुनि के संग विराजत वीर।
काकपच्छ, सिर, कर कोदँड-सर सुभग पीत पट कटि तूनीर॥
नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी व्रजवधू अहीर।
तुलसी प्रभुहिं देत सब आसन निज निज मन-मृदु-कमल-कुटीर॥

यहाँ सुरभी, व्रजवधू और अहीर शब्दों का प्रयोग कितना अनुचित है, पाठक इसका अनुमान कर सकते हैं। (गाय, व्रजवधू और अहीर ये सब कृष्ण के साथी हैं,) इनका वर्णन

केवल कृष्ण-काव्य में होता है। फिर राम-काव्य में यह प्रयोग कैसा ?

इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि हिंडोला और फाग कृष्ण से ही सम्बद्ध है, राम से नहीं। फिर भी तुलसीदास ने राम से हिंडोला झुलवाया है और फाग खिलवाया है। सूरदास का अथवा यों कहिये कि कृष्ण-काव्य का इससे अधिक स्पष्ट प्रभाव तुलसीदास पर और क्या हो सकता है।

आली री राघो के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।
फटिक भीति सुचारु चहुँ दिसि मंजु मनि मय पौरि॥
गच काँच लखि मन नाच सिखि जनु पाँचसर सुफँसौर॥
सो समय देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि।
गुन रूप जोवन सींव सुन्दरि चलीं झुण्डनि झारि॥

॥ १८ ॥ उत्तरकाण्ड गीता० ॥

झुण्ड झुण्ड झूलन चलीं गजगामिनि बरनारि।
कुसुम चीर तनु सोहहीं भूषन बिबिध सँवारि॥

॥ १९ ॥ उ० गीता० ॥

नगर नारि नर हरषित सब चले खेलन फागु।
देखि राम छवि अतुलित उमगत उर अनुराग॥
खेलत फाग अवधिपति अनुज सखा सब संग,
बरखि सुमन सुर निरखहिं सोभा अमित अनंग॥

॥ २१ उत्त० गीता० ॥

खेलत बसंत राजाधिराज, देखत नभ कौतुक सुर-समाज।
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ, झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ।
बाजहिं मृदंग डफताल बेनु, छिरकैं सुगंध भरे मलय रेनु।
उत जुवति जूथ जानकी संग, पहिरे पट भूषन सरस रंग।
लिए धरी बेंत सोधैं विभाग, चाँचरी झूमक कहैं सरस राग।
नूपुर किंकिनि-धुनि अति सुहाइ, ललनागन जब जेहि धरहिं धाइ।
लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ, छाँड़हिं नचाइ हाहा कराइ।
चढ़े खरनि विदूषक स्वाँग साजि, करैं कूटि, निपट गइ लाज भाजि।
नर नारि परस पर गारि देत, सुनि हँसत राम भाइन समेत।
बरसत प्रसून बर विबुध-बृंद, जय जय दिनकर-कुल-कुमद-चंद।
ब्रह्मादि प्रसंसत अवध-वास, गावत कल कीरति तुलसिदास॥

२२ उ० गी०

यह तो रही विषय की समानता, पर एक आध स्थल पर तो तुलसीदास ने राम को कृष्ण के नाम से संबोधित भी कर डाला है।

तुलसीदास प्रेम बस श्रीहरि दिसि देखि विकल महतारी।
गदगद कंठ नयन जल, फिरि फिर आवन कह्यो मुरारी॥

हाँ, एक सज्जन ने हमसे कहा था कि मुरारि विष्णु का नाम है, और रामचन्द्र विष्णु के अवतार थे, इसलिए यह नाम इस स्थान पर अनुपयुक्त नहीं है। हमारा कहना केवल इतना है कि तुलसीदास ने रामचन्द्र पर ही सभी ग्रंथ लिखे हैं, पर और कहीं क्यों उन्होंने रामचन्द्र को मुरारी नाम से सम्बोधित नहीं

किया ? फिर मुरारी शब्द केवल कृष्ण के लिए ही प्रचलित है, इसको सभी को मानना पड़ेगा।

पदों की रचना करने में सूरदास तुलसी से कहीं श्रेष्ठ थे, दोनों के अध्ययन करने से यह पता लग जायगा। सूरदास में भी असीम भक्ति का स्रोत उमड़ता है, पर कला की प्रधानता से वह भक्ति साधारण-जन समुदाय को प्रभावित न कर सकी। तुलसीदास की भक्ति सूरदास की भक्ति से भिन्न है। सूरदास की भक्ति में कविता है, तुलसीदास की भक्ति में उपदेश है; सूरदास की भक्ति में प्रवाह है, तुलसीदास की भक्ति में ओज है। इसीलिए तुलसीदास की भक्ति के उद्गार सरल तथा स्पष्ट हैं और उन्होंने साधारण जन-समुदाय को प्रभावित कर दिया। फिर तुलसीदास ने राम की भक्ति सिखाई है, और राम-चरित्र को आदर्श चरित्र माना; और सूरदास कृष्ण के भक्त थे, और कृष्ण का चरित्र, उसके रूपक को छोड़ कर, धर्म के साधारण नियमों के अनुसार उज्ज्वल नहीं है।

यह तो स्पष्ट है कि तुलसीदास में एक गुण विशेष था। वे वर्णनात्मक कविता करने में सिद्ध हस्त थे। सूरदास गीत-काव्य के रचयिता थे और खण्डकाव्य में वे असफल रहे। इसीलिए उनके अनेकों पद जो उन्होंने सूरसागर में कथा-भाग के पूर्ण करने के लिये लिखे हैं, प्रायः रसहीन से हैं।

तुलसीदास के जीवन काल में ही एक नये युग का, जो अलंकृत युग के नाम से प्रसिद्ध है, जन्म हो गया था, और जैसा

हम कह चुके हैं इसका पता तुलसीदास के ग्रंथों से लग सकता है। अलंकृत-काव्य के प्रथम आचार्य केशवदास माने जाते हैं, यद्यपि अलंकृत काव्य को उनसे प्रथम कृपाराम ने लिखा था। केशवदास तुलसीदास के समकालीन थे और जिस समय हम केशवदास और तुलसीदास को साथ साथ पढ़ते हैं, उस समय हमें कुछ बड़ी महत्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं।

तुलसीदास ने अलंकृतकाव्य भी लिखा है—और उनके अलंकृत काव्य के ग्रंथ हैं कवितावली और बरवै रामायण। तुलसीदास स्वाभाविकता और सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं, तोभी हमें यह अनुभव होने लगता है कि तुलसीदास में कृत्रिमता आ गयी। इसके कारण क्या हैं? कारणों का विश्लेषण करने से हम एक बड़े मज़ेदार नतीजे पर पहुँचते हैं।

इसके पहिले कि हम उन कारणों का विश्लेषण करें, हमें अलंकृत काव्य का समझ लेना आवश्यक है।

अलंकृत काव्य हिन्दी भारतवर्ष में उस समय नया न था—सदियों पहिले वह संस्कृत में बड़े विस्तृत रूप में लिखा जा चुका था। जिस समय किसी भाषा की कविता पूर्ण हो जाती है, उस समय उसमें प्रत्येक अंग पर कुछ विशेष नियम बन जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप मैं अलंकारों का प्रयोग-पहिले पहिल प्राकृतिक नियम से कविता में आप ही आप होता है। बाद में जब संस्कृत काव्य पूर्णता को पहुँच गया, उन अलङ्कारों का विश्लेषण कर के और उनको नियमों में बाँध कर उन्हें विशेष

नाम दे दिये गये। कृत्रिमता कला की अन्तिम सीढ़ी है और इसी नियम के अनुसार अलंकृत-काव्य चमत्कारपूर्ण होते हुए भी अप्राकृतिक है। जिस समय राजदरबारों ने कविता को आश्रय दिया, उस समय कविता उन दरबारों की रुचि की ओर झुकी। चमत्कार शृङ्गार-रस से सम्बद्ध है, और इसलिए अलंकृत-काव्य शृङ्गारिक काव्य का दूसरा नाम कहा जा सकता है। यह शृङ्गारिक कविता नियमों से परिमार्जित थी, और केशवदास ने इसको हिन्दी में स्थान दिया। अलङ्कारों का प्रथम ग्रंथ हिन्दी में केशवदास की कविप्रिया है, और उसमें कविता अलङ्कारों को प्रधानता दे कर लिखी गयी है। इसीलिए कविप्रिया आदि से अन्त तक महा अस्वाभाविक है। यही हाल तुलसीदास के बरवै रामायण का है। बरवै रामायण को पढ़ते पढ़ते हम यही अनुभव करने लगते हैं कि तुलसीदास ने यह ग्रंथ अलङ्कारों का दिग्दर्शन कराने ही को लिखा है।

यहाँ हम तुलसीदास पर केशवदास के प्रभाव का अनुभव करते हैं। तुलसीदास ने, जैसा स्वाभाविक ही है, अलङ्कारों को दिखाने के लिए कविता लिखते लिखते, कहीं कहीं बड़े भद्दे तथा कृत्रिम बरवै लिख दिये हैं। उदाहरण स्वरूप में श्लेष अलङ्कार को दिखलाने के लिए जो बरवा उन्होंने लिखा है, वह बड़ा टेढ़ा है—

वेद नाम कहि अँगहनि खण्ड अकास।
पठयो सूपनखाहिं लखन के पास॥

वेद का पर्यायवाची शब्द है श्रुति और श्लेष से श्रुति का अर्थ है कान। इसी प्रकार आकाश का पर्यायवाची शब्द है नाक (लोक और नासिक।)

इसी प्रकार अल्प अलङ्कार को दिखलाते हुए तुलसीदास ने एक महा अस्वाभाविक बरवा लिख डाला है—

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ॥

ऐसी अस्वाभाविक उक्तियाँ तुलसीदास ऐसे महान्‌कवि को शोभा नहीं देतीं। यहाँ हमें स्पष्ट रूप से केशवदास का प्रभाव मालूम होता है।

शृङ्गारिक कवियों का अध्ययन करने से यह पता लग जायगा कि उन्होंने घनाक्षरी और सवैया को ही अपनाया है और यहाँ तक कि ये छन्द उन्हीं के हो गये हैं। भक्तिकालीन कवियों ने इन छन्दों का बहुत कम और प्रायः नहीं के बराबर ही प्रयोग किया है। इन छन्दों का अधिकता से प्रयोग पहिले पहिल हम केशव-दास की रसिकप्रिया तथा कवि-प्रिया में पाते हैं। तुलसीदास ने भी कवितावली में इन छन्दों का प्रयोग किया है।

केशवदास अलंकृत कविता के आचार्य थे, और उनके समय में उनका मान भी यथेष्ट था। केशवदास राजदरबारी थे, और वे दरबारों के आचार-व्यवहार से भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए जहाँ तुलसीदास ने कल्पना से काम लिया है, वहाँ

केशवदास ने अनुभव से, और देखते हैं कि केशवदास राज-सभा आदि के वर्णनों में तुलसीदास से अधिक बढ़ गये हैं। केशवदास पण्डित थे और उनके पाण्डित्य तथा अलंकृत काव्य की परिपाटी ने उनमें कृत्तिमता की मात्रा यथेष्ट से अधिक कर दी है; इसीलिए आज कल केशवदास का स्थान कवि की हैसियत से ऊँचा नहीं माना जाता। पर यह समय की बात है; कृत्रिम काव्य का भी एक युग था; और उस युग में तुलसीदास का केशवदास से प्रभावित हो जाना कोई आश्चर्यजनक तथा असंभव बात नहीं है। केशवदास का तुलसीदास पर प्रभाव, कवितावली की क्लिष्टता किसी अंश तक प्रकट करती है।

कवितावली में कई स्थल ऐसे हैं जहां पढ़ते पढ़ते केशवदास की कविता सिर में चक्कर काटने लगती है। केशवदास की भाषा तथा शैली में यथेष्ट भेद है, पर कवितावली के अनेक स्थलों में तुलसीदास की प्राकृतिक भाषा तथा शैली लोप हो जाती है, और उनमें स्पष्ट रूप से केशवदास की भाषा तथा शैली की छाया दिखलाई देने लगती है। तुलसीदास की भाषा सरस तथा मधुर है, पर हम इतना कह सकते हैं कि यदि किसी साहित्य के विद्यार्थी को ये छन्द दे दिये जायं और उनमें से "तुलसी" शब्द हटाकर उससे पूछा जाय कि ये छन्द किसके हैं, तो वह अवश्य यही कहेगा कि ये छंद केशवदास के हैं।

डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्वै समुद्र सर,
व्याल बधिर तेहिकाल विकल दिगपाल चराचर॥

दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्खभर,
सुरविमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ
ब्रह्माण्ड खण्ड किय चण्ड धुनि, जबहिं राम सिव धनु दल्यौ
॥ ११ बा० कविता० ॥

गर्भ के अर्भक काटन को पटुधार कुठार कराल है जाको।
सोई है पूछत राजसभा धनु को दल्यो हौं दलि हौं बल ताको॥
॥ २० बा० ॥

सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि
दलत जेहि दूसरो सर न साँध्यो।
आनि पर बाम बिधि बाम तेहि राम सों
सकत संग्राम दसकंध काँध्यो।
समुझि तुलसीस कपि-कर्म घर घर घैरु
विकल सुनि सकल पाथोधि बाँध्यो।
बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत
लंक नहिँ खात कोउ भात राँध्यो॥

रामचन्द्रिका केशवदास का एक सुन्दर ग्रंथ है। केशवदास ने रामचन्द्र को रामचन्द्रिका में चौगान खिलाया है। रामचन्द्रिका का चौगान-वर्णन हम यहाँ देते हैं:—

यहि विधि गये राम चौगान; सावकाश सब भूमि समान।
शोभन एक कोश परिमान; रच्यो रुचिर तापर चौगान।

एक कोद रघुनाथ उदार ; भरत दूसरे कोद उदार।
सोहत हाथे लीन्हे छरी ; कारी, पीरी राती हरी।
देखन लग्यौ सबै जगजाल ; डारि दियो भुव गोला हाल।
गोला जाय जहाँ जहँ जवै ; होत तवै तित ही तित सवै।
मनो रसिक लोचन रुचि रचे ; रूप संग बहु नाचनि नचे।
लोक लाज छाँड़े अँग अंग ; डोलत जनु जन मन के सँग।
उत ते इत, इत ते उत होइ ; नेकउ ढील न पावै सोइ।
काम क्रोध मद मढ्यौ अपार ; मानो जीव भ्रमै संसार॥
जहाँ तहाँ मारै सब कोइ ; ज्यों नर पंच-विरोधी होइ।
घरी घरी प्रति ठाकुर सवै ; बदलत भूषन बाहन तवै।

केशवदास राजसी जीवन से परिचित थे, और चैागान राजाओं ही का खेल था। इसीलिए केशवदास ने अपने ढंग के अनुसार रामचन्द्र के। चैागान खिलवाया था। लेकिन तुलसीदास ने भी, मानस ऐसे बृहत् ग्रंथ में ते। नहीं, किन्तु हाँ गीतावली में रामचन्द्र से चैागान खिलवाया है :—

रामलखन इक ओर भरत रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल, गन गन गोइयँ बाँट लये।
कंदुककेलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि, तन कसि ठोंकि ठये।
कर कमलन विचित्र चैागानै, खेलन लगे खेल रिझये।
व्योम विमाननि विवुध विलोकय खेलक पेखक छाँह छये।
सहित समाज सराहि दशरथहिं बरसत निज तरुकुसुम चये।
॥ ४३ उ० ॥

दोनों की कविताओं के पढ़ने से उनके चौगान-वर्णनों की सफलता का पता लग जायगा। केशवदास इस खेल से पूर्णरूप से परिचित मालूम होते हैं, क्योंकि उन्होंने उत्तरकाण्ड में प्रौढ़ रामचन्द्र को चौगान खिलाया है। साथ में उन्होंने चौगान के नियमों का वर्णन भी कर दिया है। एक शृङ्गारिक कवि की हैसियत से जो रूपक उन्होंने गोले के बांधे हैं वे बड़े सुन्दर हैं। पर तुलसीदास को पढ़ने से यह मालूम होता है कि वे उस खेल से परिचित न थे। ऐसा मालूम होता है कि तुलसीदास यह न सोच सके कि प्रौढ़ मनुष्य भी कोई खेल खेल सकता है, उनके लिए तो यह कल्पना के बाहर था। तुलसीदास ने, मालूम होता है, यह खेल स्वयम् देखा भी न था; बस उन्होंने केशवदास के वर्णन को पढ़ कर ही, गीतावली में रामचन्द्र को चौगान खिलवाया है। पर उन्होंने यह खेल खिलवाया है बालक रामचन्द्र को। अस्तु, जो कुछ हो, चौगान-वर्णनों में भेद केवल भाषा और शैली का रह जाता है, रही वर्णन करने के क्रम की बात, उसमें अधिक भेद नहीं है।

इतना तो मानना ही पड़ेगा कि केशवदास तुलसीदास की कभी भी बराबरी नहीं कर सकते। तुलसीदास का एक ग्रंथ मानस केशवदास के सब ग्रंथों से बाज़ी मार ले जाता है, क्योंकि तुलसीदास ने उसमें अपनी प्राकृतिक प्रतिभा से काम लिया है। हाँ, जहाँ तुलसीदास ने केशवदास के क्षेत्र में पैर रक्खा है, वहाँ वे असफल ही रहे हैं।

तुलसीदास के समकालीन कवियों में अब्दुल रहीम खानखाना का नाम बड़े महत्व का है। खानखाना मुसलमान तो थे, पर वे हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। वे वास्तव में एक महान् प्रतिभाशाली कवि थे, केवल एक बुराई के कारण वे प्रसिद्ध न हो सके, और इसका कारण था कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया। प्रायः प्रत्येक भाषा में, जिसे वे जानते थे,—और उन्हें यथेष्ट भाषाओं का ज्ञान था, उन्होंने कविता की, और यही उनकी असफलता का कारण हुआ। एक भाषा में कविता करने में यदि वे अपनी प्रतिभा लगाते तो शायद वे बहुत बढ़ जाते। अस्तु जो कुछ हो, यह कहना ही पड़ेगा कि रहीम का स्थान हिन्दी-संसार में काफ़ी ऊँचा है। राजदरबारी होते हुए भी, उन्होंने अपना जीवन साहित्य को समर्पित कर दिया था। रहीम के हिन्दी में दो ग्रंथ हैं, नीति के दोहे और बरवै नायिका-भेद। दुर्भाग्यवश तुलसीदास उनसे भी किसी अंश तक प्रभावित हुए हैं। स्पष्ट रूप से हम रहीम का प्रभाव तुलसीदास की बरवै रामायण में देखते हैं। उस प्रभाव का विश्लेषण करने के पूर्व हमें बरवै रामायण की तिथि को निश्चित कर लेना योग्य है।

हमारे विचार से बरवै रामायण तुलसीदास के अन्तिम ग्रंथों में है। इसके कारण हैं। प्रथम तो बरवै रामायण अलंकृत काव्य है, और इस लिए वह उस समय लिखा गया जब अलंकृत काव्य का प्रचार यथेष्ट हो चुका था। ऐतिहासिक आधार

पर यह कहा जा सकता है कि अलंकृत-काव्य का प्रचार तुलसीदास के जीवन के उत्तरार्ध में हुआ।

दूसरा कारण भी विचार करने के योग्य है। बरवा छन्द की सुन्दरता उसकी भाषा पर निर्भर है, क्योंकि यह एक ग्रामीण छन्द है। एक तरह से यह कहना अनुचित न होगा कि बरवा पूरबी भाषा का छन्द है। बरवा लिखने में रहीम सिद्ध हस्त थे, और लोगों का मत है कि बरवै काव्य के प्रथम आचार्य रहीम ही थे।

रहीम ने बरवों में नायिका-भेद लिखा है। तुलसीदास संत थे, नायिका-भेद उनके क्षेत्र के बाहर था, इसीलिए उन्होंने अलङ्कारों पर ही संतोष किया। तुलसीदास के अलङ्कार सुन्दर हैं, पर वह सुन्दरता तुलसीदास की शब्दाडम्बर से रहित, सरल तथा प्राकृतिक नियमों से बँधी हुई सुन्दरता के सामने व्यंग मात्र है। जो जिसका क्षेत्र है, उसी में वह सफल हो सकता है दूसरे के क्षेत्र में नहीं, और इसीलिए तुलसीदास ऐसे महान् कवि बरवा छन्द लिखने में खानखाना से कहीं नीचे पड़ गये। तुलसीदास स्वाभाविकता के आचार्य थे, कृत्रिमता उनमें खटकने लगती है।

रहीम उस भाषा में, जिसमें बरवै लिखे जाते हैं सिद्ध हस्त थे। बरवा छन्द के लिए पूरबी बोली ही उपयुक्त भाषा है, यह साहित्य का कोई भी विद्यार्थी बरवा छन्द पढ़ कर कह सकता है

और तुलसीदास के बरवों को पूरबी-भाषा में न लिखने के कारण उनके बरवे कानों को खटकने लगते हैं।

रहीम के दो बरवे यहां दिये जाते हैं!

लहरत लहर लहरिया अजब बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥
जस मदमातल हथिया हुमकत जात।
चितवत जात तरुनिया मन मुसकात॥

पढ़ने वालों को यह स्पष्ट हो जायगा कि इन बरवों की जान इन के शब्दों में है। पूरबी शब्द ही बरवों के लिए सब से उपयुक्त है। लहरिया किनरिया, मदमातल हथिया हुमकत, चितवत, तरुनियां आदि शब्दों में इस बरवे की सुन्दरता है, और यह देखा जा सकता है कि इन बरवों में शब्दों के पूरबी रूपों को छोड़कर किसी और भाषा के रूप सफल नहीं हो सकते।

(तुलसीदास, यद्यपि पूरबी उनकी भाषा थी, फिर भी बरवा छन्द में पूरबी भाषा का प्रयोग करने में असफल ही रहे) यही हमारे यह मानने का कि बरवै रामायण तुलसीदास के जीवन के उत्तरार्द्ध में लिखा गया है, दूसरा कारण है।

तुलसीदास जिस समय व्रजभाषा में लिखने लगे उनका पूरबी में लिखने का अभ्यास छूट गया। उनकी भाषा ही एक प्रकार से व्रजभाषा हो गयी। इसीलिए वे अपने प्रान्त के एक ग्रामीण छन्द को उसकी भाषा में न लिख सके। तुलसीदास के बरवों को पढ़ कर उन पर व्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट ज्ञात होता है

और यहीं उनकी वरवा छन्द में लिखने की असफलता का कारण मिलता है।

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह निसि दिनि यह बिगसाय॥

इस स्थान पर जिमि और किमि शब्द कानों में खटकने लगते हैं। इनका वास्तविक रूप जस और कस होना चाहिये था। अनेक शब्द तुलसीदास के वरवों में ऐसे हैं जो कर्णकटु हैं और इसी कारण तुलसीदास बरवा लिखने में रहीम से नीचे गिर जाते हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि तुलसीदास ने वरवा के लिखते समय पूरबी भाषा का प्रयोग नहीं किया, और शायद वे यह भी न मानें कि पूरबी भाषा ही वरवों की भाषा है। पर ऐसा कहते समय तुलसीदास के वरवों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ऐसे स्थलों की कमी नहीं जहां तुलसीदास ने अपने वरवों में पूरबी भाषा का प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास भी मानते थे कि वरवा छन्द पूरबी भाषा में ही लिखा जाता है।

चितवनि बसति कनखियन अँखियन बीच

वरवा छन्द क्लिष्ट अलङ्कारों के लिए नहीं है, और तुलसीदास की असफलता का एक कारण उनका प्रत्येक अलङ्कार को बरवों में स्पष्ट कराने का प्रयत्न है। ग्रामीण-छन्द होने के कारण सरलता ही वरवों का भूषण है, यह उर्दू के अशआर की तरह

स्पष्ट तथा मर्मस्पर्शी छन्द है। नायिका भेद बरवों के लिए अच्छा विषय है, पर अलङ्कार सर्वथा अनुचित है। तुलसीदास सन्त थे, इसलिए नायिका भेद वे लिखने से रहे, हाँ अलङ्कारों के लिखने में उन्हें कोई आपत्ति न थी।

चढ़त दसा यह उतरत जात निदान।
कहौं न कबहुँ धनु है भौंह समान॥
सींक धनुष हित सिखन सकुचि प्रभु लीन।
मुदित माँग इक धनुही नृप हँसि दीन॥

इतना सब होते हुए भी तुलसीदास का स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा है। सूरदास, केशवदास और रहीम—ये सब तुलसीदास के समकालीन थे, पर किसी की भी इतनी ख्याति नहीं है जितनी तुलसीदास की है। भक्ति के लिए नहीं, कविता के लिए तुलसीदास का स्थान हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। तुलसीदास का महत्व उनके मौलिक ग्रंथ रामचरितमानस के ही कारण है, अन्य ग्रंथों में अपने समकालीन कवियों के प्रभाव के कारण वे अधिक सफल न हो सके। (मानस में सरलता, अलङ्कार, भाषा और भाव सभी बहुत सुन्दर हैं, और अद्वितीय है तुलसीदास का कथा-नक-निर्वाह।)

दलित जातियों के द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवा

लेखक—दीनदयाल गुप्त एम० ए०

हिन्दी भाषा के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि दलित जातियों ने हिन्दी भाषा की कितनी सेवा की है। भाषा की उन्नति का एक बहुत बड़ा अङ्ग इन्हीं के सहारे खड़ा है। ये जातियां प्राचीन काल से ठुकराई जाती रही हैं, परन्तु तो भी इन्होंने देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक उन्नति में हाथ बटाया है। भाषा-मन्दिर की नींव को दृढ़ करने में भी इनका बहुत बड़ा भाग है। हिन्दी-साहित्य अपने प्रारम्भिक काल से ही इनका ऋणी है, इन जातियों में ऐसे ऐसे महात्मा हो गए हैं जिनके सामने ऊँची से ऊँची जाति वाले मनुष्य अपना सिर झुकाते हैं। अछूतों की साहित्य-सेवा का मुख्य कारण उनमें धार्मिक जाग्रति है। स्वामी रामानन्द से पहले दलित जातियों की बड़ी बुरी दशा थी। शूद्र भगवत्-भक्ति के अधिकारी न थे। वैष्णव-सम्प्रदाय के गुरु केवल द्विजातियों को ही उपदेश देते थे। समाज में आपस में जाति-पांति और छुआ-छूत का बहुत विचार था। स्वामी रामानन्द ने समाज की यह दशा देखी और उसके सुधारने का संकल्प किया। उन्होंने अछूतों को अपनाया, दलितों का उद्धार किया और जाति-पांति

का भेद हटा कर सब को मनुष्यता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने उच्चस्वर से कह दिया—

जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि का भजे सो हरि का होई॥

छूत-अछूत, ऊँच-नीच के भेद को भूल कर उन्होंने मानव-समानता का आदर्श जन साधारण के सामने रक्खा और क्या चमार क्या कसाई सभी को अपने शिष्यों में स्थान दिया। शताब्दियों से पददलित और ठुकराए अछूतों के हृदय थोड़ी सी सहानुभूति पाकर खिल उठे, मानों मुरझाए हुए वन में बसन्त का आगमन हुआ। उनको पहली बार ही जान पड़ा कि संसार में अपने से अकार-प्रकार, शक्ति-सामर्थ्य वाले मनुष्य चाहें उन्हें नीच और घृणित भले ही समझें परन्तु ईश्वर के दरबार में, भक्ति के मार्ग में सब एक है। उन्हें मालूम हो गया:—

ऐसे राम, दीन हितकारी।
हिंसारत, निषाद तामस वपु पसु समान बनचारी
भेंट्यो हृदय लगाइ, प्रेम बस, नहिं कुल-जाति बिचारी॥

अपनी दशा सुधारना किसे अच्छा नहीं लगता? घृणित और तिरस्कृत होकर जीवन किसे भला लगता? अछूतों के हृदय में भक्ति-मार्ग का आदेश घर कर गया। चमार, धुना, जुलाहे, कसाई, सभी पचकल्यानी लोग भक्त बनने के अधिकार का लाभ उठाने को तत्पर हुए। यह उनकी अनधिकार चेष्टा न थी। वे अपने मनोरथों में सफल हुए, जिनको छूने से, जिनकी

परछाईं पड़ जाने से, मनुष्य अपने को अपवित्र समझते थे आज वे ही प्रातः स्मरणीय और पूज्य भगवद्भक्तों की श्रेणी में गिने जाते हैं।

स्वामी रामानन्द के बाद उनके कार्य को कबीर ने सँभाला। मनुष्य मात्र के प्रेमी और साम्प्रदायिकता के कट्टर द्वेषी महात्मा कबीर ने एक परमेश्वर की शिक्षा देते हुए जाति-पांति के मुँह पर लात मारी। उनका विश्वास था कि गुणवान मनुष्य की कुछ जाति-पांति नहीं होती:—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार की, पड़ी रहन दो म्यान॥

—कबीर

इनके बाद श्री वल्लभाचार्य जी ने भी अपने सम्प्रदाय में जाति-पांति का कोई भेद न रक्खा। वल्लभी सम्प्रदाय में कृष्ण-दास तथा नाभादास आदि नीच जाति के सन्त और अच्छे कवि हो गए हैं। दलित जाति के कवियों में अधिकतर धार्मिक तथा वैष्णव सन्त कवि ही हुए हैं, और वे मुख्यतः दो सम्प्रदाय के हैं। कबीर, रैदास सदना, सेन, कमाल, नामदेव और दादू-दयाल रामानन्दी थे, नाभादास तथा कृष्णदास वल्लभी सम्प्रदाय के थे।

कबीरदास दलित जाति के सब से बड़े कवि और धर्म-सुधा-रक महात्मा हुए हैं। इनकी जन्म-तिथि के बारे में बहुत मत-भेद है। माना जाता है कि इनका जीवन काल १३९८ ई० से १५१८

तक है, ये जाति के जुलाहे और काशी के रहने वाले थे इनके विचार बाल्यावस्था से ही धार्मिक थे। स्वामी रामानन्द इनके गुरु थे। इनकी रचना में सूफ़ी मत की बहुत सी बातें हैं इस लिए कुछ लोग इनको शेखतक़ी के शिष्य मानते हैं। छोटेपन से ही ये सत्सङ्ग करने लगे थे। देशों देशों में घूम कर और साधु महात्माओं का सङ्ग करके इन्होंने हिन्दूधर्म का ज्ञान प्राप्त किया था। पढ़ना लिखना ये बिलकुल नहीं जानते थे। बीजक में इन्होंने कहा हैः—

मसि कागज छूवों नहीं, कलम गहों नहिं हाथ।
चारिउ जुग का महातम कबिरा, मुखहि जनाई बात॥

कबीरदास गृहस्थ होते हुए भी त्यागी थे। हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों में जो जो बुराइयां देखीं उनका उन्होंने विरोध किया। नाम की महिमा और सत्य इनका सर्वस्व था। मूर्ति-पूजा, जाति-पांति का भेद और जीव-हिंसा का इन्होंने खंडन किया। अवतारवाद के विरोधी थे। मन्दिर और मसजिद किसी को नहीं मानते थे। लोगों को उपदेश दे कर हिन्दू मुसलमानों को मिलाने का प्रयत्न किया। समाज के सुधार में जितना काम कबीर ने किया है उतना तुलसीदास को छोड़ कर हिन्दी के और किसी कवि ने शायद ही किया हो। इनके धर्म-सिद्धान्त के विषय में पंडित अयोध्यासिंह लिखते हैं "मेरा विचार है कि कबीर साहब एकेश्वरवाद, साम्यवाद, भक्तिवाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसावाद, और संसार की असारता के प्रतिपादक, एवं मायावाद, अवतार-

वाद, देववाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, व्रतउपवास, तीर्थयात्रा, और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे।"

साफ़ कहने में ये कभी नहीं चूकते थे। आज कल इनके मत के मानने वाले बहुत लोग हैं। सन्त श्रेणी के कवियों ने अपने विचार अधिकतर इनसे ही लिए हैं। इनकी रचना से ज्ञात होता है कि इनके दार्शनिक विचार कुछ सुलझे हुए न थे।

कबीरदास के बनाए हुए ७५ ग्रन्थ मिल चुके हैं। इनमें मुख्य बीजक, साखी, शब्दावली, रमैनी आदि हैं। इन्होंने कविता काव्य की दृष्टि से नहीं की। यदि कविता के गुणदोष के विचार से इनकी रचनाओं की समालोचना की जाय तो अवश्य ये उच्चकोटि के कवि नहीं ठहरते, परन्तु हिन्दी की जितनी उन्नति तथा उपकार इन महात्मा ने किया है उतनी हिन्दी के बहुत कम कवियों ने किया होगा। इनके पन्थ के चलने के साथ हिन्दी का भी प्रचार हुआ। इनके शिष्यों ने ही क्या, लगभग इस श्रेणी के सब सन्तों ने भाषा में ही अपने विचार प्रकट किये।

इनकी कविता का विषय धर्म और समाज-सुधार है। भाषा बहुत रूखी और खिचड़ी है। यह भाषा साहित्यिक न होकर सादी बोलचाल की है, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी सब मिली हैं। उनकी उपमा तथा रूपक बड़े सीधे, सरल और घरेलू हैं, परन्तु बहुत सी अगह उपमाएँ उखड़ी सी जान पड़ती हैं। जहां तहां काव्य की भी अच्छी झलक है, संयोग शृङ्गार का एक उदाहरण लीजिए:—

नैनन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय॥

इनकी कविता में बहुत सी जगह बड़े सुन्दर सुन्दर विचार भी हैं।

माली आवत देखि कै, कलियाँ करति पुकार।
फूली फूली चुनि लई, कालि हमारी बार॥

रूपकः— कुबुधि कमानी चढ़ि रही कुटिल बचन कर तीर।
भरि भरि मारे कान लौं, सालै सकल सरीर॥

कविता में बहुत से दोष और त्रुटियाँ होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को बहुत सम्पत्तिवान बना दिया है। उपदेश से भरी हुई इनकी बहुत सी साखियाँ बच्चों को स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं जिनसे उनके विचार और चरित्र के सुधार में बड़ी सहायता मिलती है।

उदाहरणार्थः— जो तोकूँ काँटा बुवे, ताहि बोइ तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥ १॥
ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥ १॥

रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपरी, मति ललचावै जीव॥ २॥

विरह, प्रेम, लगन, आदि विषयों पर इनकी बड़ी सुन्दर उक्तियाँ हैं।

विरह :— विरह तेज तन में तपै, अङ्ग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव में, मौत ढूँढ़ि फिरि जाय॥

प्रेम :— प्रेम छिपाए ना छिपै, जाघट परघट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥
प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होइ विदेश।
तन में मन में नैन में, ताको कहा सँदेश॥

लगन :— लागी लगन छुटै नहीं जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अँगार में, जाहि चकोर चबाय॥

इनके बहुत से पद और गाने गाए भी जाते हैं—

करम गति टारे नाहिं टरी।
मन लागो यार! फकरी में।
जो सुख पावै नाम-भजन में सो सुख नाहिं अमीरी में॥

इनकी बहुत सी साखी और पद कहावतों के रूप में प्रचलित हो गये हैं।

आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत।
अब पछताये क्या करै, चिड़ियाँ चुग गई खेत॥

रैदास :—सन्त कवियों में रैदास जी का भी स्थान बहुत ऊँचा है। ये जाति के चमार और काशी के रहने वाले थे। महात्मा रामानन्द जी के प्रिय शिष्यों में से थे। इनके पिता ने इन्हें अलग कर दिया था, इस लिए ये जूता बना कर अपना पेट पालते और सदा साधुसेवा और भगवद्भक्ति में लगे रहते थे। भक्तमाल में इनके बारे में एक छप्पय है।

सन्देह-ग्रन्थि-खण्डन-निपुन, बानी विमल रैदास की ॥

सदाचार श्रुति शास्त्र-वचन अविरुद्ध उचारयौ,
नीर खीर विवरन परम हंसनि उर धारयौ
भगवत कृपा परमगति इहि तन पाई
राज-सिंहासन बैठि जाति-परतीति दिखाई।

वर्णाश्रम-अभिमान तज, पद रज बन्दहिं जासु की।
सन्देह-ग्रन्थि-खण्डन-निपुन, बानी विमल रैदास की ॥

गुजरात प्रान्त में इनके मत के माननेवाले ऐसे बहुत आदमी हैं जो अपने को रविदासी कहते हैं। ये इतने पूज्यनीय महात्मा थे कि मीराबाई इनकी चेली हो गई। इनकी महानता के चिन्ह-स्वरूप में आजकल चमार लोग अपने को "रैदास" और "भगत" के नाम से पुकारते हैं। इन महात्मा ने अपनी जाति का ही नहीं, सभी भक्तों का नाम उज्ज्वल किया था।

इनकी कविता भक्ति और शिक्षा से परिपूर्ण है।

उदाहरण :—अब कैसे छुटै राम रट लागी

प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अँग अँग बास समानी।

आदि।

रैदास की 'बानी', 'साखी' और 'पद' तीन ग्रन्थ खोज में मिल चुके हैं।

साखी :—हरि सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भासै रैदास ॥

सदना जीः—जाति के कसाई थे। भगवद्भक्त होने के साथ ही साथ ये सन्त-श्रेणी के कवि भी थे। रामानन्द इनके गुरु थे। भक्तमाल में प्रियादास के एक छन्द से इनके विषय में बहुत कुछ मालूम हो जाता है।

सदना कसाई ताकी नीकी बनि आई,
जैसे बारे बानी सोने की कसौटी कस आई है।
जीव को न बध करै, ऐसे कुलाचार ढरै,
बेंचे मांस लाय, प्रीति हरि सों लगाई है॥

कहा जाता है कि इनका जन्म सिन्ध में हुआ था। इनके रचे हुए पद सिक्खों के ग्रन्थ साहब में मिलते हैंः—

उदाहरणः—एक बूंद जल-कारने, चातक दुःख पावै।
प्राण गए सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥
मैं नाहीं कछु हों नहीं, कछु आहि न मेरा।
औसर लज्जा राख लेहु, सदना जन तेरा॥

सेनः—ये जाति के नाई और स्वामी रामानन्द जी के चेले थे। इनकी गणना भी सन्त कवियों में है। इनका कविता-काल, मिश्र बन्धुओं ने संवत् १४५७ के लगभग दिया है। ये रीवाँ के रहने वाले थे। इनके विषय में यह भी कहा जाता है कि रीवाँ के महाराज इनके चेले हो गये थे। नाभाजी इनके विषय में अपने भक्तमाल में कहते हैंः—

विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥

प्रभु दास के काज रूप नाई कौ कीनो,
छिपि छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो,
सादृश ह्वै तिहि काल, भूप के तेल लगायो,
उलटि राव भयो शिष्य, प्रगट परचो जब पायो।
श्याम रहत सन्मुख सदा, ज्यों बच्छा-हित धेन के।
विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥

इस छप्पय में भगवान के नाई का वेश धारण करने की कथा चाहे झूठी हो परन्तु इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि सेन भगवान के बड़े भक्त और साधु आदमी थे। इनकी भी थोड़ी कविता प्राप्त होती है।

नामदेव जीः—नामदेव जी वैष्णव सम्प्रदाय के स्वामी ज्ञानदेव जी के शिष्य और प्रसिद्ध महात्मा थे। ये जाति के छीपी थे, कोई कोई आदमी इनको जाति का दर्जी भी कहते हैं। मिश्रबन्धु इनका कविता-काल संवत् १४८० के लगभग देते हैं। धार्मिक नेता होने के साथ साथ ये कवि भी थे। 'नामदेव की बानी' नामक ग्रन्थ मिल चुका है। इन्होंने साखी, पद, राग और सोरठे भी लिखे हैं। भाषा व्रजभाषा है। इनकी कविता से इनकी अविचल भगवद्भक्ति टपकती है। ये सिकन्दर लोदी के समय में हुए और कबीर के समकालीन थे। इनकी करामात बहुत मशहूर है। भक्तमाल के एक कवित्त में कहा गया है कि एक समय ये मुसलमानी

दरबार में बुलाए गए और इनसे कहा गया कि मरी हुई गाय को जिला दो। इन्होंने निम्न लिखित पद गा कर गऊ को जिला दिया :—

तेरा दास आस मोहिं तेरी, इत करु कान मुरारी।
दीनानाथ दीन है टेरत, गायहिं क्यों न जिआओ। आदि—

कविता इनकी साधारण श्रेणी ही की है।

उदाहरण :—भाई रे इन नैनन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिल लेखो॥ १॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवे साधु को, रसना और न दूजा॥ २॥
यह संसार हाट को लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गमाया॥ ३॥

महात्मा नामदेव जी हिन्दी के साथ साथ मराठी के भी बड़े अच्छे कवि थे।

दादूदयालः—दादूदयाल का जीवन-काल सन् १५४४ से १६०३ ई० तक माना जाता है, इनकी जाति के विषय में बड़ा मतभेद है। कोई तो इनको जाति का मोची बताते हैं और कोई ब्राह्मण। बहुत से लोग कहते हैं कि ये जाति के धुनिया (कढ़ेरे) थे। यदि ये जाति के मोची अथवा धुनिया थे तो हम इनकी गणना दलित जाति में कर सकते हैं। कहा जाता है कि ये कबीर के पुत्र कमाल के चेले थे। स्वभाव के ये सचमुच

दयालु थे। इनका चलाया हुआ पन्थ दादू-पन्थ कहलाता है। इनके पन्थ के साधु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वेशधारी विरक्त जो गेरुआ वस्त्र पहनते और भजन उपासना में अपना समय व्यतीत करते हैं। दूसरे नागा कहलाते हैं, जो खेती इत्यादि करते हैं, और धनोपार्जन कर अपने पंथियों को देते हैं। दादू पंथी निर्गुण उपासक हैं। ये मृत शरीर को जलाते अथवा गाड़ते नहीं, जंगल में छोड़ देते हैं। दादू ने कहा है:—

"दादू मरन तहाँ भला, जहँ पसु पंखी खांय"

काव्य की दृष्टि से इनकी कविता भावपूर्ण तथा शिक्षाप्रद तो है, परन्तु बहुत रोचक नहीं है। प्रत्येक पद और साखी में योग की झलक है। इनकी रचना में मुख्यतः ये भाव हैं, परमेश्वर की महिमा, उसका सच्चिदानन्द स्वरूप, अजपाजाप, अनहद शब्द का श्रवण और उसमें लीन होना। खोज में इन के तीन ग्रन्थ मिल चुके हैं। (१) 'दादू जी का अध्यात्म' (२) 'दादूदयाल का कृत्य' (३) सामर्थ का अङ्ग। दादूदयाल हिन्दी, फारसी गुजराती, मराठी आदि कई भाषायें जानते थे। इनकी कविता में गुजराती के शब्द बहुत आए हैं। ये धर्म और समाज के संशोधक थे। इन्होंने हानिकारक चालों का विरोध किया, और पूर्व साधु फ़कीरों की उत्तम उत्तम बातें लेकर एक नया पन्थ चला दिया। गुरु की महिमा इन्होंने भी खूब गाई है।

उदाहरण:—आपा पर सब दूरि करि, राम-नाम-रस लाग
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जाग ॥
एक मना लागा रहै, अन्त मिलेगा सोइ।
दादू जाके मन बसै, ताकौ दरसन होइ ॥
ना वह मिलैं न मैं सुखी, कहु क्यूँ जीवन होइ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ ॥

कमाल:—कमाल का समय मिश्रबन्धुओं ने संवत् १५०७ दिया है। ये महात्मा कबीरदास जी के पुत्र थे। कहा जाता है कि दादूदयाल इन्हीं के शिष्य थे। कदाचित् ये अपने पिता के सिद्धान्तों को नहीं मानते थे, इसी से एक कहावत है "डूबा बंस कबीर का उपजे पुत कमाल"। कमाल की कविता मामूली दर्जे की है।

उदाहरण:—

राम के नाम सों काम पूरन भयो, लच्छिमन नाम ते लच्छि पायो।
कृष्ण के नाम सों धारि सों पार भे, विष्णु के नाम विश्राम आयो।
आइ जग बीच भगवंत की भक्ति कर, और सब छाँड़ि जंजाल छायो।
कहत कम्माल कब्बीर का बालका निरखि नरसिंह प्रहलाद गायो ॥

नाभादास:—नाभा जी के जन्म तथा मरण-काल का कुछ ठीक ठीक पता नहीं। भक्तमाल में तुलसीदास के बारे में जो इनका छप्पय है उससे ज्ञात होता है कि ये तुलसीदास के समकालीन थे। ये बड़े भक्त और अच्छे कवि थे। जाति के ये डोम थे। प्रियादास

ने अपनी टीका में इन्हें हनुमानवंशी बताया है। मारवाड़ी भाषा में हनुमान डोम को कहते हैं। इनका लिखा हुआ ग्रन्थ भक्तमाल है। इसमें इनके लगभग ३०० छन्द हैं। दो दो एक एक छन्दों में सन्त भक्तों का वर्णन किया गया है। इसमें हिन्दी भाषा के लगभग ४०० वर्ष के सब सन्त तथा धार्मिक कवि आ गए हैं। भक्तमाल की टीका नाभादास जी के शिष्य प्रियादास ने की है। नाभादास जी ने भक्तमाल रच कर हिन्दी भाषा का बड़ा भारी उपकार किया है। इस ग्रन्थ से भक्त कवियों के जीवन-चरित्र जानने में बड़ी सहायता मिली है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की है। जो पाठ हमको प्राप्त है यदि हम उसे ठीक मानें तो इनकी कविता में कविता की दृष्टि से बहुत सी अशुद्धियां हैं, फिर भी हम कह सकते हैं कि यदि नाभा जी का भक्तमाल न होता तो बहुत से कवि और भक्त सज्जनों के नाम तक हम को मालूम न हो पाते।

उदाहरण :—कलि कुटिल जीव-निस्तारहित वाल्मीकि तुलसी भयो।
त्रेता काव्य-निबन्ध करिब शतकोटि रमायन,
इक अच्छर उद्धरैं ब्रह्म-हत्यादिपरायन,
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला विसतारी,
रामचरन-रस-मत्त रटत अहिनिशि व्रतधारी,

संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लयो।
कलि-कुटिल जीव-निस्तार-हित वाल्मीकि तुलसी भयो।

कृष्णदास :—महात्मा कृष्णदास श्रीवल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। इनकी गणना अष्टछाप के कवियों में है। ये जाति के शूद्र थे। कोई कोई इनको जाति का गड़रिया बताते हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी का इनके ऊपर विशेष प्रेम था, और इसी कारण ये श्रीनाथ जी के मन्दिर के सर्व प्रधान प्रबन्ध-कर्ता नियुक्त किए गए थे। इनके जीवन-काल के विषय में कुछ ठीक ठीक पता नहीं चला। मिश्र बन्धु इनका कविता-काल संवत् १६०० के लग-भग देते हैं। इनका जीवन-चरित्र चौरासी वैष्णवों की वार्ता में दिया गया है। कृष्णदास परम भक्त और उच्चकोटि के कवि थे। कहते हैं कि इनकी कविता सूरदास जी से टक्कर खाती थी। इनका लिखा हुआ कोई पूरा ग्रन्थ नहीं मिला। वियोगी हरि जी ने अपने 'ब्रज माधुरीसार' में लिखा है कि हमने "कृष्णदास जू को कीर्तन" नामक एक हस्त लिखित संग्रह देखा है। उसमें इनके १२५ पद हैं। जो पद प्राप्त हैं उन्हें पढ़ कर हम कह सकते हैं कि इनकी कविता बड़ी भावमय और ओजपूर्ण है। भाषा बड़ी रोचक तथा सरल ब्रज भाषा है।

उदाहरण :—रासरस गोविंद करत विहार।

सूरसुता के पुलिन रम्य महँ, फूले कुन्द मदार॥
अद्भुत सतदल विकसित कोमल, मुकुलित कुमुद कल्हार।
मलय पवन वह सारदिपूरन, चन्द्र मधुप-झंकार॥
सुघरराय संगीत-कलानिधि, मोहन नन्द-कुमार।
व्रज भामिन सँग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार॥
उभै स्वरूप सुभगता सींवाँ, कोक-कला-सुख सार।
कृष्णदास स्वामी गिरधर पिय, पहिरे उर में हार॥

खगनियाँ तेलिन :— दलित जाति की एक स्त्री ने भी हिन्दी में अच्छी कविता की है, इसका नाम खगनियाँ और इसके पिता का नाम 'वासू' था जो उन्नाव ज़िले के रणधीर पुर कसबे में रहता था, यह जाति की तेलिन थी। इसके भी रचना तथा जीवन-काल का कुछ पता नहीं। इसने ग्रामीण भाषा में बहुत सी पहेलियाँ बनाई हैं जो बहुत सरल तथा रोचक हैं। ये पहेलियाँ उन कहानियों सी हैं जिन्हें औरतें बहुधा घरों में रात को एक दूसरी से पूछा करती हैं।

नरसिंह :—आधा नर आधा मृगराज, जुद्ध बिश्राहे आवै काज।
आधा टूटि पेट में रहै, वासु केरि खगनियाँ कहै॥

दवात :—भीतर गूदर ऊपरि नागि, पानी पियै परारा माँगि।
तिहि की लिखी करारी रहै, वासु केरि खगनियाँ कहै॥

दलित जाति के कवियों और सन्तों ने जो उपकार और कार्य-हिन्दी-भाषा के प्रचार तथा उसके साहित्य की उन्नति के लिए किया है वह अति सराहनीय है। साहित्य की दृष्टि से ये महात्मा उच्चकोटि के कवि नहीं हैं। उनकी भाषा में कोई विशेष चमत्कार नहीं, उनकी कविता काव्यरीति की कसौटी पर कसे जाने योग्य नहीं। इसका कारण यही है कि इन लोगों में प्रायः सब बेपढ़े ही थे। उन्होंने अपने उपदेशों को लोक-प्रिय बनाने और उनका प्रचार करने के लिए बोलचाल की भाषा और ग्रामीण मुहावरों का प्रयोग किया, जिससे लोगों के ऊपर इनका बहुत प्रभाव पड़ा। कविता में उपमा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग अपने विचारों को अधिक प्रभावमय बनाने के लिए ही किया, काव्य की दृष्टि से नहीं। बहुत सी त्रुटियाँ होते हुए भी यह साहित्य उस निकृष्ट साहित्य से कहीं बढ़कर है, जिसने समाज को इतनी हानि पहुँचाई है। नखशिख-वर्णन और नायक-नायिका-भेद के शृङ्गारिक साहित्य से यह साहित्य अवश्य ही ऊँचा है। इन कवियों की रचना में आद्योपान्त शान्त रस की धारा बहती है, जनता का जितना सम्बन्ध इन अनपढ़ कवियों की बानी से है उतना कदाचित् किसी भी बड़े कवि की कविता से नहीं। इसमें नवेली नायिकाएँ नहीं, इनके कर्कश तथा रूखे शब्दों में अनन्त सौन्दर्य है, भगवद्भक्ति का मधुर-रस है और ईश्वर के अनूप रूप का दिग्दर्शन है। इनके शब्द सच्चे हृदय की तन्त्री से निकले हुए गान हैं, जो हमारी अन्तरात्मा को नचा देते हैं। देव और

बिहारी की तरह यह सन्त-समुदाय कोमलाङ्गियों के कलित कलेवर का उपासक नहीं, यह उस परम शान्ति और परमात्मा का उपासक है जिनकी महिमा वेदशास्त्रों ने गाई है, इनके उद्गार हमारे हृदयों में वासना और उत्कण्ठा पैदा न कर, शान्ति और अद्भुत आनन्द का संचार करते हैं। इनकी कविता शराब की बोतल की तरह मस्त और शय्यासेवी बनाने वाली नहीं है, वरन दूध के कटोरे की तरह सज्जनों और साधु पुरुषों को प्रसन्न करने वाली है। यह हृदय को क्षुब्ध करने वाली वसन्त की छटा नहीं, वरन् शरद की शीतल चाँदनी है। इन दलित सन्तों के पास राजा महाराजाओं के जगर मगर करते हुए ऊँचे महल नहीं, उनके पास कोई सजावट नहीं, उनके तो केवल टूटी फूटी फूस से बनी झोपड़ियाँ हैं जिनमें वह स्वर्गीय आनन्द है जिसमें मग्न होकर मनुष्य समस्त संसार को भूल जाता है।

इस लेख का उद्देश्य अछूतों की हिन्दी-साहित्य-सेवा का दिग्दर्शन मात्र है अभी इस क्षेत्र में बहुत कुछ खोज की आवश्यकता है।

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.